सनातनधर्म
SANATAN DHARMA

(सनातनधर्मकी दार्शनिकता, वैज्ञानिकता और व्यावहारिक धरातल पर उपयोगिता का प्रतिपादक अद्भुत ग्रन्थ)
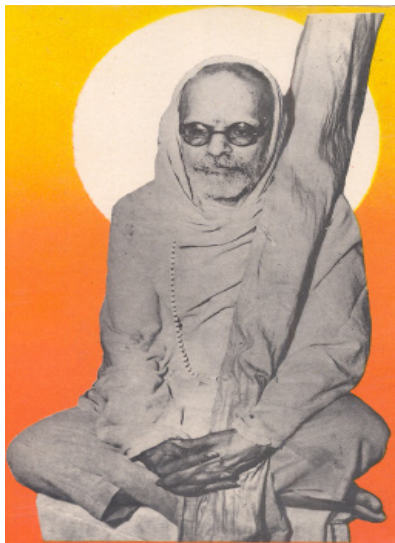
मूल लेखक

पूर्वाम्नाय श्रीगोवर्द्धनमठ, पुरी के १४३ वें

श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य

स्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी

अनुवादक

श्रीविश्वेश्वरनाथ मेहरोत्रा (पटना, बिहार)

।। श्रीहरि: ।।

* श्रीगणेशाय नम: *

''स्वस्तिप्रकाशन संस्थान'' श्रीगोवर्द्धन मठ, पुरी का
६७ वाँ पुष्प

*

सनातनधर्म

*

*

प्रथमसंस्करण वि.स. २०६६, सन् २००९

*

१००० प्रतियाँ

*

सहयोगराशि
२२०.०० (दो सौ बीस रुपये)

*

स्वस्तिप्रकाशनसंस्थान
श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य गोवर्द्धन मठ
पुरी (उड़ीसा) भारत
दूरभाष (०६७५२) २३१०९४, २३१७१६

दो शब्द

मेरे पति स्वर्गीय श्रीविश्वेश्वरनाथ मेहरोत्रा बिहार विधान-सभा सचिव (सेवानिवृत्त) का यह सपना था कि वे अपने गुरुदेव परमपूज्यपाद जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज की अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तक ''सनातनधर्म'' का हिन्दी अनुवाद कर उन्हें समर्पित करें ।

उन्होंने अद्भुत आस्था और दक्षतापूर्वक ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद सम्पन्न किया, परन्तु परिस्थितिवश अपने जीवन काल में मेरे पति ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य पूर्ण नहीं कर सके । उनकी अन्तिम इच्छा को आदेश स्वरूप मानकर उनके द्वारा हिन्दी में अनुवादित इस पुस्तक को प्रकाशित कराने की जिम्मेदारी मेरी पुत्री श्रीमती भारती सेठ (लखीमपुर, खीरी) एवं मेरे छोटे भाई श्रीविजयकृष्ण मेहरा (भोपाल) द्वारा ली गई । श्री अशोकसिं-हजी (पटना) का इस पुस्तक के कम्पोज में अथक योगदान रहा । मेरी पुत्री एवं भाई के प्रयत्नों, श्रीनिर्विकल्पानन्दसरस्वतीजी (सचिव, शङ्कराचार्यजी - पुरीमठ) के अथक प्रयासों एवं सहयोग से तथा पूज्य पुरीपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्दसरस्वती जी के आशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हो सका है, अन्यथा यह कार्य कभी पूर्ण नहीं हो पाता ।

मैं परम पूज्य पुरी-पीठाधीश्वर श्रमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्दसरस्वती जी महाराज को यह पुस्तक सादर समर्पित करती हूँ तथा परिवार पर उनके आशीर्वाद की कामना करती हूँ ।

भूमिका

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
(गीता ४/ ७)

इसी प्रतिज्ञा के पालन के क्रम में परम पूज्यपाद जगद्-गुरु-शङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज का अभ्युदय हुआ । सनातनधर्म की महत्ता, वैज्ञानिकता एवं चमत्कारिकता को पुनः स्थापित करने के लिए, अद्वैतवाद की प्रामाणिकता को पुनः सिद्ध कर सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्ममय बतलाने के लिए तथा जीवन की हर अवस्था में धर्मशास्त्रों द्वारा निर्देशित उच्चकोटि की मर्यादा का पालन करते हुए समस्त मानवजाति को भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख-शान्ति का मार्ग दिखलाने के लिए परम पूज्य गुरुदेव का आविर्भाव हुआ था । ईश्वर असङ्ख्य रूप में अवतीर्ण होते हैं । धर्म की रक्षा एवं भक्तों के उद्धार के लिए वे विभिन्न रूप धारण करते हैं । उनके अवतारों की कोई गणना नहीं, कोई सीमा नहीं । परम पूज्यपाद ऐसे ही एक अवतार थे । ज्ञान और विद्वत्ता में अद्वितीय, बुद्धि विलक्षण, प्रतिभा अलौकिक, मनोबल की दृढता ध्रुवतारा-सी, सहनशक्ति अवर्णनीय, भक्त अथवा द्रोही सबके प्रति स्नेह एवं अनुकम्पा का भाव, स्वभाव शिशु-सा सरल तथा उनका त्याग दधीचि के समान था । अस्वस्थ होते हुए भी सनातनधर्म के प्रचार एवं वेदान्त की गरिमा पुनः स्थापित करने के लिए उन्होंने अमरीका

की यात्रा की । उन्होंने वैदिक सनातन धर्म के एवं वेदान्त के सिद्धान्तों के वैज्ञानिक आधार को स्पष्ट किया और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि सनातनधर्म और वेदान्तविज्ञान विपरीत नहीं हैं, बल्कि सनातनधर्म विशुद्ध विज्ञान पर ही पूर्णरूप से आधारित है । अमरीका के पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने, दार्शनिकों ने, अध्यापकों एवं विद्वानों की मण्डली ने तथा विभिन्न संस्थाओं ने इनके अलौकिक ज्ञान, दिव्य प्रतिभा एवं इनके गणित के क्षेत्र में किये गये नवीनतम आविष्कार की अत्यन्त प्रशंसा की । जगद्‌गुरु, अमरीका की विद्वन्मण्डली एवं जनसाधारण में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे । विश्वप्रसिद्ध इतिहासज्ञ लार्ड टॉयनबी से जो उनकी वार्त्ता हुई जिसे अक्षरशः इस पुस्तक के परिशिष्ट में दी गई है, मात्र उससे ही जगद्‌गुरु के अथाह ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है । जगद्‌गुरु ने लार्ड टॉयनबी एवं लार्ड बर्टेन्ड रसेल के विचारों से असहमत होते हुए निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जो मन्तव्य दिया, विश्व के घटना-चक्र ने उसे अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिखाया और आज विश्व के लगभग समस्त राजनीतिज्ञ एवं विद्वान् मानते हैं कि निःशस्त्रीकरण की समस्या का समाधान सम्बन्धित पक्षों की सद्भावपूर्ण वार्त्ता एवं एकता और समता पर आधारित है ।

इतने बड़े धर्मज्ञ, महान् विद्वान्, युवाकाल में प्राचीन तपस्वियों एवं ऋषियों की भाँति कठोर तपस्या करनेवाले, समस्त सिद्धियों से सम्पन्न परम पूज्यपाद का स्वभाव अत्यन्त सरल एवं मधुर था । उनका मुक्त हास्य सरल, अबोध शिशु

के हास्य कि भाँति होता । दूसरों के दुःखों की गाथा सुनकर करुणा से, सहानुभूति से उनकी आँखें भर आतीं । गुरु के पद की मानमर्यादा रखते हुए उन्होंने शिष्यों के लिए, भक्तों के लिए, समस्त मानवमात्र के लिए अनेक कष्ट झेले । वे सदा सत्य और धर्म के मार्ग पर अडिग रहे । श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लिखित योगी एवं संन्यासी के गुणों का वर्णन जैसे उनके चारित्रिक गुणों का बखान हो, ऐसे थे गुरुदेव । उन्हें चमत्कारिक योगशक्तियाँ प्राप्त थीं । जिन सिद्धियों को प्राप्त कर योगी अपने को धन्य मानते हैं, सफल समझते हैं, उन सिद्धियों को प्राप्त कर भी गुरुदेव ने कभी उन्हें महत्ता न दी और न कभी अपने लिए उपयोग किया । 'ओम्' उनके लिए महामन्त्र था । जब भी वे शारीरिक कष्ट में होते, निरन्तर 'ओम्' का उच्चारण करते ।

परम पूज्यपाद को मैं बाल्यकाल से ही देखता आ रहा था । मेरे परमपूज्य पिताजी श्री विश्वम्भरप्रसाद उनके अनन्य भक्त रहे हैं । बाल्यकाल से ही देखता कि जब भी परम पूज्यपाद पटना आते, हमलोगों के घर ठहरते । माता-पिता परम पूज्यपाद की सेवा में भक्तिभाव से संलग्न हो जाते । गुरुदेव को पिताजी पर न केवल स्नेह तथा, बल्कि पूर्ण विश्वास था । परम पूज्यपाद की उपस्थिति से समस्त गृह दिव्यज्योति से आभासित हो जाता । चारों ओर स्वतः हर्ष और आनन्द की तरङ्ग उठने लगती । गुरुजी अपने कितने संस्मरण सुनाते और कभी-कभी बीच में सरल भाव से मुक्त हास्य कर उठते । मेरा अनुज श्रीसुरेन्द्रप्रसाद उस समय लगभग तीन-चार वर्षों का था । गुरुदेव की पूजा के

समय अथवा जब गुरुदेव विश्राम करते होते, वह उनके पास पहुँच जाता और भक्तिभाव से बैठा रहता । गुरुदेव बड़े स्नेह से उसे गोदी में बैठा लेते और उसी की भाषा में उससे बातें करते थे ।

"सनातनधर्म" के हिन्दी अनुवाद के लिये जब मेरे अनुज श्रीसुरेन्द्र प्रसाद ने अनुरोध किया तो मैं तत्काल तत्पर हो गया । जब परमपूज्य गुरुदेव का लौकिक शरीर था तो मैं शिष्य का कर्त्तव्य निभा नहीं सका । लेकिन मनुष्य शरीर त्याग करने पर भी परम पूज्य गुरुदेव का अस्तित्व पूर्ववत् है । भगवान् राम ने, भगवान् कृष्ण ने अपने मानव शरीर को तिरोहित अवश्य किया, लेकिन उनका अस्तित्व यथावत् है । परम पूज्यपाद उन्हीं के एक अंश के अवतार थे । विशेष उद्देश्य के लिए अवतीर्ण हुए थे ।

"सनातनधर्म" का हिन्दी अनुवाद करते समय मैं सदा इस बात पर सजग रहा कि कहीं गुरुदेव की वाणी का गलत अनुवाद न हो जाये । अनुवाद में वर्षों लग गये । नौकरी में रहने के कारण पूरा समय नहीं मिल पाता था । अन्ततः अनुवाद सम्पूर्ण हुआ । इसके लिए मैं अपनी पत्नी श्रीमती उषा मेहरोत्रा का अत्यधिक आभारी हूँ, जो मुझे सदा प्रोत्साहित करती रहीं । अपनी पुत्री सौ० भारती का भी कम आभारी नहीं हूँ, जो मात्रा की त्रुटि पकड़ने का अवसर कभी खाली नहीं जाने देती थी ।

"सनातनधर्म" के सम्बन्ध में क्या कहूँ ? यह एक दिव्य ग्रन्थ है । इसमें इतिहास, विज्ञान, धर्म, दर्शन, गणित सभी कुछ है । इस ग्रन्थ में सनातनधर्म का, वेदान्त का तथा

भूमिका

हमारी संस्कृति का वैज्ञानिक आधार बताया गया है । विश्व के नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कार से सनातनधर्म के सिद्धान्तों की तुलना की गई है । और इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि आधुनिक नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कार से प्राप्त जो सिद्धान्त हैं, उन्हीं सिद्धान्तों पर अनादि काल से सनातनधर्म स्थित है । वर्तमान युग के अनेक पाश्चात्यविद्वानों द्वारा किये गये विभिन्न अन्वेषण एवं आविष्कार किस प्रकार सनातनधर्म के वैज्ञानिक आधार को प्रमाणित और पुष्ट करते हैं, यह इस ग्रन्थ में लक्षित है । कोई भी सच्चा देशप्रेमी भारतीय, कोई भी हिन्दू भले ही वह किसी देश का हो, इस ग्रन्थ को पढ़कर गर्व और गौरव से अपने मस्तक को उन्नत कर लेगा । मेरा पूर्ण विश्वास है कि कोई भी हिन्दू इस ग्रन्थ को पढ़कर हिन्दूधर्म में जन्म लेने के लिए अपने को धन्य मानेगा ।

परमपूज्य गुरुदेव वास्तविक अर्थ में जगद्गुरु थे । समस्त जीव-प्राणी के प्रति उनका प्रेमभाव था । मानवमात्र को वे अपने उपदेश का अधिकारी मानते थे । भौतिक ज्ञान-विज्ञान के महान् देश अमरीका की उन्होंने यात्रा की । विद्वन्मण्डली के समक्ष सनातनधर्म की वैज्ञानिकता, वेदान्त की प्रामाणिकता सिद्ध की । वैदिक गणित के अपने आविष्कार से वैज्ञानिकों एवं अध्यापकों को चमत्कृत किया । अमरीका हो अथवा इंगलैन्ड जहाँ भी जो गुरुदेव के सम्पर्क में आता अपने जीवन को धन्य मानता । उनके सरल स्वभाव एवं अथाह ज्ञान से सब अभिभूत हो जाते ।

मेरे परमप्रिय गुरुदेव

भारत के सुसंस्कृत लोगों में से ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने विख्यात गोवर्द्धन मठ, पुरी को सुशोभित करनेवाले दिव्य एवं अलौकिक विभूति परमपावन जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्रीभारती-कृष्णतीर्थजी महाराज को बृहत् एवं सर्वतोमुखी विद्वत्ता, उनकी आध्यात्मिक एवं शैक्षिक उपलब्धियाँ, पाण्डित्य, वैदिक गणित के क्षेत्र में उनके आश्चर्यजनक अन्वेषण एवं सफलताओं के विषय में तथा अपनी उन सब योग्यताओं को मानवता की सेवा में समर्पित कर देने के सम्बन्ध में नहीं सुना होगा ।

परमपूज्य जो अपने शिष्यों के बीच प्रेम से 'जगद्गुरुजी' अथवा 'गुरुदेव' के नाम से जाने जाते थे, उनका जन्म मार्च १८८४ ईसवीं में प्रकाण्ड पण्डित तथा धार्मिक माता-पिता के यहाँ हुआ था । उनके पिता स्वगर्यि श्री पी. नरसिंह शास्त्री उस समय (मद्रासप्रदेश) में तहसीलदार के रूप में सेवा में थे और बाद में उन्होंने उपसमाहर्त्ता के पद से अवकाश प्राप्त किया । उनके चाचा स्वगर्यि श्रीचन्द्रशेखरशास्त्री महाराज महाविद्यालय, विजयनगरम् के प्रधानाचार्य थे और उनके पर दादा स्वगर्यि न्यायमूर्त्ति श्रीरघुनाथशास्त्री, मद्रास उच्च न्यायालय के न्यायाधीश थे ।

बाल्यकाल में (संन्यास के पूर्व) जगद्गुरु जी का नाम

वैंकट रमण था । वे असाधारण प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी थे और वे समस्त कक्षाओं में, समस्त विषयों में निरन्तर प्रथमस्थान प्राप्त करते रहे । अपने स्कूल के दिनों में वे नेशनल कॉलेज तिरुनेलवेली तथा हिन्दू कॉलेज तिरुनेलवेली के विद्यार्थी थे । मद्रास यूनिवरसिटी से जनवरी १८९९ में मैट्रीक्यूलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और सदा की भाँति सर्वप्रथम रहे ।

संस्कृत तथा वक्तृत्व में उनकी प्रवीणता विलक्षण थी और इस कारण, जबकि वे अपने सोलहवें वर्ष में ही थे, जुलाई १८९९ ई. में मद्रास संस्कृत असोसिएशन ने उन्हें 'सरस्वती' की उपाधि से विभूषित किया । इस अवस्था में जगद्‌गुरु जी पर उनके संस्कृत के गुरुजी श्रीवेदम् वेंकटराज शास्त्री का बड़ा ही गहन प्रभाव पड़ा और जगद्‌गुरु जी उनको अगाधप्रेम आदर तथा कृतज्ञता से अश्रुसिक्त हो स्मरण करते थे ।

स्नातक (बी.ए.) की परीक्षा में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने के उपरान्त श्रीवेंकटरमण सरस्वती सन् १९०३ ई. में बम्बई केन्द्र से अमेरिकन कॉलेज ऑफ साइन्स, रौचेष्टर, न्यूयार्क की एम्.ए. की परीक्षा में बैठे और १९०४ ई. में केवल बीस वर्ष की अवस्था में, एक साथ ही सात विषयों में प्रत्येक में सर्वोच्च सम्मान के साथ, एम.ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए जो शैक्षिक तेजस्विता का कदाचित् सम्पूर्ण विश्व का कीर्त्तिमान् है । उन में थे संस्कृत, दर्शनशास्त्र, अंग्रेजी, गणित, इतिहास तथा विज्ञान ।

विद्यार्थी के रूप में वेंकटरमण ने अपनी अद्भुत त-

ेजस्विता, उच्चकोटि की स्मरणशक्ति तथा सतत-अतोषणीय जिज्ञासा के कारण विशेषता प्राप्त कर ली थी । वे अपने शिक्षकों पर अनेकानेक बेधक प्रश्नों की बौछार कर देते, जिससे उनके शिक्षक व्यग्र हो उठते और बहुधा स्पष्ट रूप में अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करने को बाध्य हो जाते । इस सम्बन्ध में उन्हें भीषण उपद्रवी विद्यार्थी माना जाता था ।

अपने विश्वविद्यालय के दिनों से ही श्रीवेंकटरमण सरस्वती ने धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र, इतिहास, राजनीति, साहित्य आदि पर विद्वत्तापूर्ण लेख स्वर्गीय डब्लू.टी. स्टीड की पत्रिका में देने लगे थे । उनकी विज्ञान की समस्त शाखाओं में विशेष रुचि थी । वस्तुतः आधुनिक विज्ञान के नवीनतम अन्वेषणों तथा अनुसन्धानों के अध्ययन में जगद्गुरुजी की अभिरुचि जीवन के अन्तिम दिनों तक निरन्तर बनी रही ।

श्री वेंकटरमण ने अपना सार्वजनिक जीवन सन् १९०५ ई. सन् में माननीय गोपालकृष्ण गोखले, सी.आई.इ. के मार्गदर्शन में राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन तथा दक्षिण अफ्रिका में भारतीय समस्या से आरम्भ किया । एक ओर तो वेंकटरमण 'सरस्वती' ने अथाह ज्ञान प्राप्त कर लिया था, यद्यपि उनकी उत्कण्ठा और भी अधिक ज्ञान अर्जन करने की तब भी शान्त नहीं हुई थी, और दूसरी ओर मानवता की निःस्वार्थ सेवा करने की भावना से उनका हृदय अत्यन्त विह्वल हो उठता था, तथापि उनका अत्यधिक आकर्षण विज्ञानों का विज्ञान पावन तथा प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक विज्ञान के अध्ययन और

साधना के प्रति था । अतएव १९०८ ई. में वे अत्यन्त प्रसिद्ध जगद्गुरु-शङ्कराचार्य महाराज श्रीसच्चिदानन्दशिवाभिनव नृसिंह भारती स्वामी के चरणों में स्वयं को समर्पित करने मैसूर के शृङ्गेरी मठ गये ।

लेकिन वहाँ अधिक दिनों तक रह नहीं पाये थे कि उन्हें कर्त्तव्य पालन हेतु राष्ट्रीय नेताओं के अत्यन्त आग्रह पर राजमहेन्द्री में नवस्थापित नेशनल कॉलेज (राष्ट्रीय महाविद्यालय) के प्रथम प्रधानाचार्य का पद ग्रहण करना पड़ा । प्रोफेसर वेंकटरमण सरस्वती तीन वर्षों तक वहाँ निरन्तर कार्यरत रहे, किन्तु वे आध्यात्मिक ज्ञान, साधना तथा उसमें योग्यता प्राप्त करने की तीव्र आकाङ्क्षाओं का प्रतिरोध नहीं कर सके, अतएव अकस्मात् उस कॉलेज से अपना पिण्ड छुड़ा कर वे शृङ्गेरी में श्रीसच्चिदानन्द शिवाभिनव नृसिंह भारती स्वामी के पास लौट आये ।

बाद के आठ वर्ष उन्होंने वेदान्तदर्शन के उच्चतम स्तर के गहनतम अध्ययन तथा ब्रह्मसाधना के अभ्यास में व्यतीत किये । इन दिनों प्रोफेसर वेंकटरमण श्रीनृसिंह भारती स्वामी के चरणों में बैठकर वेदान्त का अध्ययन करते थे, समीपवर्त्ती वनों में जाकर उच्चतम तथा अत्यन्त प्रबल योगसाधना का अभ्यास करते तथा साथ ही विद्यालयों में संस्कृत तथा दर्शनशास्त्र पढ़ाते थे । बहुधा उन्हें विविध संस्थाएँ भी दर्शनशास्त्र पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित करतीं । उदाहरणार्थ उन्होंने शङ्कर इन्स्टीच्यूट् ऑफ फिलॉसफी (दर्शन शास्त्र का शङ्कर संस्थान) अमलनेर

में क्रमबद्ध रूप में सोलह व्याख्यान दिये और इसी भाँति पूना, बम्बई आदि अन्य कई स्थानों में व्याख्यान दिये ।

कई वर्षों के अत्यन्त उच्चस्तरीय अध्ययन, गहनतम आत्मचिन्तन तथा सर्वोच्च आध्यात्मिक साधना की उपलब्धि के उपरान्त प्रोफेसर वेंकटरमण सरस्वती १४ जुलाई १९१९ को वाराणसी में शारदापीठ के परम पावन जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्रीत्रिविक्रमतीर्थजी महाराज द्वारा संन्यास की पवित्र परम्परा में दीक्षित हुए और इस अवसर पर उन्हें नया नाम स्वामी भारतीकृष्णतीर्थ दिया गया ।

यहीं से स्वामी जी की वास्तविक उज्ज्वल प्रतिभा प्रकाश में आने लगी । संन्यास की पवित्र परम्परा में प्रवेश पाने के दो वर्षों के अन्तराल में ही शारदापीठ के धर्माध्यक्ष के आसन पर शङ्कराचार्य के रूप में पदासीन होने की उनकी अभूतपूर्व योग्यता सिद्ध हो गई और फलस्वरूप १९२१ में उनकी अनिच्छा तथा सक्रिय प्रतिरोध होने पर भी, उन्हें विधिवत् अनुष्ठानों द्वारा शरदा पीठ पर अधिष्ठित किया गया । श्रीजगद्गुरुजी ने पीठासीन होते ही भारत का भ्रमण, एक छोर से दूसरे छोर तक, सनातनधर्म पर प्रवचन करते हुए आरम्भ किया और उन्होंने अपनी तेजस्वी प्रतिभा की दीप्ति, प्रभावशाली वक्तृत्व, आकर्षक व्यक्तित्व, कर्त्तव्यनिष्ठा, अदम्य मनोबल, विचारों की निष्कलुषता तथा चरित्र की उत्कर्षता से राष्ट्र के समस्त बौद्धिक एवं धार्मिक वर्ग में हलचल मचा दी ।

गोवर्द्धन मठ, पुरी के जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्रीमधु-

सूदनतीर्थ इस अवधि में जगद्गुरु से अत्यन्त प्रभावित हुए और जब उनका स्वास्थ्य पतनावस्था में था, तो उन्होंने जगद्गुरुजी से अनुरोध किया कि वे गोवर्द्धन मठ की गद्दी के, उनके उत्त-राधिकारी बनें । श्रीजगद्गुरुजी दीर्घ अवधि तक उनके आग्रह-पूर्ण अनुरोध का निरन्तर प्रतिरोध करते रहे, लेकिन अन्ततः सन् १९२५ ईसवीं में जब जगद्गुरु श्रीमधुसूदनतीर्थ का स्वास्थ्य अत्यन्त शोचनीय अवस्था में पहुँच गया तो उन्होंने जगद्गुरु श्रीभारतीकृष्णतीर्थ जी को बाध्य किया कि वे गोवर्द्धन मठ की गद्दी को स्वीकार कर लें । तदनुसार जगद्गुरुजी ने तत्कालीन श्रीस्वरूपानन्दजी को शारदापीठ की गद्दी पर पीठासीन किया और वे स्वयं गोवर्द्धन मठ, पुरी के श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य पद पर विधिवत् प्रतिष्ठित हुए ।

गोवर्द्धन मठ, पुरी के जगद्गुरु-शङ्कराचार्य के रूप में वे जीवन के शेष काल, पैंतीस वर्षों तक समस्त संसार में निरन्तर सनातनधर्म में आध्यात्मिक उपदेशों का उसके विशुद्ध शास्त्रीय रूप में प्रचार करते रहे । सम्पूर्ण देश में उन्होंने सनातनधर्म के उत्कर्ष को दार्शनिक, वैज्ञानिक और नैतिक धरातल पर ख्यापित किया । उन्होंने भारतीय संस्कृति की पुनर्जागृति, सनातन धर्म के विस्तार, उच्चतम मानवीय एवं नैतिक मूल्यों के पुनरुद्धार तथा समस्त विश्व में सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान की ज्योति जगाने का बृहत् कार्य किया और उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इस सर्वोच्च एवं उत्कृष्ट उद्देश्य के लिए उत्सर्ग कर दिया ।

आरम्भ से ही जगद्गुरु सनातनधर्म की उचित व्याख्या

की आवश्यकता के प्रति जागरूक थे । उसकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की : ''शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टियों से मानवमात्र के उत्कर्ष और परमानन्द में हेतु आचार-विचार सनातनधर्म है ।'' वे सदैव इस बात की आवश्यकता पर अत्यन्त महत्त्व देते थे कि दैनिक जीवन के 'आध्यात्मिक' एवं 'भौतिक' क्षेत्रों में समन्वय हो । एक ओर तो वे उन व्यक्तियों की मिथ्या धारणा दूर करना चाहते थे, जिनका यह विचार था कि धर्म का आचरण पृथक्-रूप से वैयक्तिक साधना द्वारा केवल निष्कपट भाव से जीविका उपार्जन करते हुए किया जा सकता है तथा समाज के प्रति निःस्वार्थ सेवा के उत्तरदायित्व की अवहेलना की जा सकती है ; और दूसरी ओर उन लोगों का जिनका यह विचार था कि केवल समाज की सेवा से ही, बिना किसी प्रकार का स्वयं आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किये अथवा अभ्यास किये ही, साधना पूर्ण हो जायेगी । वे निष्काम आराधना और निःस्वार्थसेवा दोनों का मङ्गलमय समन्वय चाहते थे । उनका भाव था कि उपनिषदों के उदात्त सिद्धान्त के आधार पर मानवमात्र को सर्वविध उत्कर्ष सुलभ हो ।

ये विचार कई दशकों तक उनके मानस को उद्वेलित करते रहे और सर्वप्रथम भारत और तदनन्तर सम्पूर्ण विश्व के पुनर्निर्माण की पूर्ण एवं उत्कृष्ट योजना के विकास के लिए वे निरन्तर, दिन-रात धैर्यपूर्वक कठोर परिश्रम, विस्तृत अनुसन्धान करते रहे । ऐसे ही समय में महान् योगी सन्त श्री अरविन्द घोष ने जगद्गुरुजी से अपनी यह अन्तिम अभिलाषा व्यक्त की वे

उन सभी सच्चे साधकों का जो आध्यात्मिकता, राष्ट्रीयता तथा मानवता की सेवा के मार्ग पर चलना चाहते हैं, मार्ग प्रदर्शन का उत्तरदायित्व लें । श्री अरविन्द की आकाङ्क्षाओं से प्रेरित होकर तथा अन्य कई व्यक्तियों के अनुरोध पर श्रीजगद्गुरुजी ने १९५३ में नागपुर में श्रीविश्वपुनर्निर्माण सङ्घ की स्थापना की । सङ्घ की सञ्चालक समिति में जगद्गुरुजी के शिष्य, भक्त तथा मानवता की सेवा के उनके आदर्शवादी एवं आध्यात्मिक विचारों के प्रशंसक थे । जिनमें उच्च न्यायालय के न्यायाध- ीश, शिक्षाविद्, राजनीतिज्ञ तथा भारतीय सार्वजनिक क्षेत्र के सर्वोच्च कोटि के अन्य विशिष्ट व्यक्ति थे । तथापि लम्बी एवं लगातार खोज के उपरान्त गुरुजी ने अपने प्रधान सचिव श्री चिमनलाल त्रिवेदी को पाया, जिन्हें वे अपना सच्चा, कर्मठ, उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यकर्त्ता कहते थे और जो वस्तुतः सङ्घ के कल्याण और प्रगति के लिए निरन्तर विचार एवं कल्पना करते, कार्यरत रहते तथा योजना बनाते । यद्यपि जगद्गुरुजी के गिरते स्वास्थ्य के कारण, आरम्भ में सङ्घ, प्रभावशाली रूप में कार्य नहीं कर सका, लेकिन अब भारत के मुख्य न्यायाधीश वी.पी. सिन्हा की अध्यक्षता और डॉ. सी.डी. देशमुख, आई. सी.एस्. भारत के भूतपूर्व वित्तमन्त्री तथा यूनीवरसिटी ग्रॅन्ट्स् कमीशन के भूतपूर्व अध्यक्ष की उपाध्यक्षता में यह सक्रिय रूप से जगद्गुरुजी के सन्देशों तथा उपदेशों के प्रसार में लगा है ।

श्रीजगद्गुरुजी ने विश्वशक्ति के प्रयोजन को उन्नत करने तथा भारत के बाहर भी वेदान्त के उदात्त आध्यात्मिक आदर्शों

सनातनधर्म
मेरे परमप्रिय गुरुदेव
के प्रसार के निमित्त फरवरी १९५८ में अमरीका का भ्रमण किया, परम्परा के इतिहास में, समुद्र पार के देश का किसी भी शङ्कराचार्य का प्रथम भ्रमण था ।

यह भ्रमण लासएन्जेलस की वेदान्तिक संस्था जिसकी स्थापना अमरीका में, परमहंस योगानन्द के की थी, के तत्त्वावधान में हुआ था । जगद्गुरुजी वहाँ लगभग तीन महीनों तक ठहरे और इस अवधि के अन्तराल में उन्होंने सैकड़ों महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, गिर्जाघरों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थानों में आश्चर्यजनक भाषण दिये । उन्हें दूरदर्शन पर भाषण करने तथा गणित के प्रदर्शन देने के लिए आमन्त्रित किया गया । वस्तुतः उन्होंने अपने भ्रमण काल में सम्पूर्ण अमरीका में नैतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानोदय, शान्ति तथा सामञ्जस्य की अपूर्व रूप से शक्तितरङ्ग सञ्चारित की और इस अभूतपूर्व सफलता की तुलना, कदाचित्, केवल स्वामी विवेकानन्द से की जा सकती है । सम्पूर्ण विश्व में एक धर्म स्थापित करने के उद्देश्य से अमरीका में श्रीविश्वपुनर्निर्माण सङ्घ की शाखा खोलने के लिए, उन्हें धर्म-विज्ञान के चर्च के मन्त्री डॉक्टर हारेनाडे का भी अनुरोधपत्र प्राप्त हुआ । कुछ कारणवश उस समय वहाँ सङ्घ स्थापित नहीं हो सका । अपनी वापसी के अन्तराल में जगद्गुरुजी ने कुछ व्याख्यान इंगलैन्ड में भी दिये और मई १९५८ में भारत लौट आये । पाँच दशकों से अधिक काल तक अपने शरीर, मस्तिष्क, हृदय तथा आत्मा को मानवता की सेवाएँ, आध्यात्मिक प्रबोधन तथा वेदान्तिक आदर्शों को पुनर्जीवित

करने में लगाये रहने के कारण उनके स्वास्थ्य पर भीषण तनाव पड़ रहा था । यह उनके स्वास्थ्य को पहले ही नष्टप्राय कर चुका था, किन्तु फिर भी गुरुजी ने अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा पर कभी भी ध्यान नहीं दिया । विदेश के वात्यावेगवत् विपुल भ्रमण से उनका स्वास्थ्य भीषण रूप से ग्रस्त हो गया, फिर भी उन्होंने विश्राम लेना अस्वीकार कर दिया और निरन्तर, अनवरत एवं अक्षुण्ण रूप से युवा पुरुष-जैसी शक्ति एवं उत्साह के साथ अपना अध्ययन, प्रवचन, व्याख्यान तथा लेखन कार्य करते रहे । अपने भक्तों और शिष्यों को दर्शन, परामर्श एवं प्रवचन देने से, उन्हें उस स्थिति में भी रोकना जब वे श्रम के कारण कठिनता से बोल पाते थे, वस्तुतः बड़ी जागरूकता एवं अत्यन्त पराक्रम का कार्य था । इसके परिश्रम स्वरूप वे नवम्बर १९५८ में गम्भीर रूप से रोगग्रस्त हो गये और उपलब्ध उत्तम चिकित्सा के होने पर भी उन्होंने बम्बई में २ फरवरी १९६० को अपना स्थूल शरीर त्याग दिया और महासमाधि प्राप्त कर ली ।

जिस दिन से श्री भारतीकृष्णतीर्थजी, जगद्गुरु-शङ्क-राचार्य की गद्दी पर आसीन हुए, उसी दिन से वे सबों की आँखों में आकर्षण के केन्द्र बन गये । उनका आकर्षक व्यक्तित्व, मोहक निरीहता, ज्ञान की आतुर पिपासा, धर्म के प्रति उत्साह, शास्त्रों में दृढ़ विश्वास, उनकी सर्वव्यापी करुणा, उनकी स्मरण शक्ति, इन सबों ने प्रत्येक मनुष्य को जो उनके सम्पर्क में आया, आकर्षित किया । उनके दिव्यस्वरूप की एक झलक मात्र के लिए लोग समूहों में उमड़ पड़ते और उनके दरवाजे पर घंटो प्रतीक्षा करते

। यह और कुछ नहीं, बल्कि अद्भुत, अलौकिक करुणा थी, जो उनके हृदय से प्रवाहित होती थी ।

वे सदा पूर्णतः निष्पक्ष थे । उनकी दृष्टि में सब समान थे । उन्होंने सम्पदा की कभी परवाह नहीं की । उन्होंने पद की कभी चिन्ता नहीं की । उन्हें भक्ति के अलावा और कुछ भी आकर्षित नहीं कर सकता था, धनी अथवा दरिद्र, श्रेष्ठ अथवा निम्न, सबों को उनके भव्य सान्निध्य में आने के लिए भक्ति के द्वार से जाना पड़ता था । वे हर किसी को जो उनके पास गया, अपनत्व के साथ स्नेह करते थे । जिस किसी ने भी उनसे केवल दो मिनटों तक भी बात की, इस पूर्ण विश्वास के साथ लौटा कि वह परम पावन के विशेष अनुराग का पात्र है ।

ऐसी दिव्य विभूति का रेखाङ्कन करना असम्भव है । उनका कार्यकलाप बहुक्षेत्रीय था । उनकी वाणी आनन्ददायिनी थी । उनका दर्शन पाना सौभाग्य था । उनसे बात करना वास्-तविक मङ्गलमय सुख था और विशेष साक्षात्कार की अनुमति आह ; वह तो आनन्द का चरम विन्दु था जिसकी लोग, अत्यन्त उत्साहपूर्वक अभिलाषा करते थे । उनके आश्चर्यजनक व्यक्तित्व में ऐसी चुम्बक जैसी अद्भुत आकर्षणशक्ति थी उनका एक शब्द, उनकी स्मृति अथवा उनकी एक दृष्टि मात्र ही दुराग्रही नास्तिक को भी उनके अत्यन्त प्रबल आज्ञाकारी शिष्य के रूप में परिवर्त्तित करने के लिए पर्याप्त थी । कोई किसी जाति अथवा पन्थ का हो, वे सब के थे, सम्पूर्ण संसार के वे वास्तविक गुरु थे ।

मेरे परमप्रिय गुरुदेव

सभी देशों के, धर्मों के, जलवायु के, ब्राह्मण तथा अन्य जो अब्राह्मण थे, हिन्दू और मुसलमान, पारसी और ईसाई, यूरोपियन तथा अमरीकन सभी लोग परम पावन द्वारा समान व्यवहार पाते थे। इन महान् महात्मा की अत्यधिक लोकप्रियता का यही रहस्य थी।

वे अपनी सरलता में भव्य थे। उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए लोग अपना सबकुछ उत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत रहते। वे बिना भय अथवा राग के स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान की वार्त्ता करते। सब लोग अत्यन्त सुगमता से उनके पास पहुँच सकते थे। हजारों व्यक्ति उनके पास आते और अपने दुःखों से मुक्ति के लिए प्रार्थना करते। वे ध्यानपूर्वक पुरुष अथवा नारी की दुःखद गाथा सुनते और प्रत्येक को करुणामय शब्द कहते, तदुपरान्त उन लोगों को कुछ 'प्रसाद' देते, जो उनकी व्याधि को चाहे वह भौतिक हो अथवा मानसिक दूर करता था। जब वे लोगों को दुःख झेलते पाते तो उनकी आँखों से आंसू बह निकलते और उन लोगों की कष्ट से मुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते।

वे अपनी विद्वत्ता में प्रकाण्ड थे तथा अत्यन्त अध्ययन-शील थे। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि, दीर्घ स्मृति तथा उत्कट उत्साह ने उन्हें अपने काल के अत्यधिक ख्याति प्राप्त विद्वान् के रूप में विशिष्टता दी। वे अपने अवकाश के क्षणों को कभी व्यर्थ नहीं खोते थे। वे सदा कुछ पढ़ते रहते अथवा कुछ जपते रहते। ज्ञान की कोई ऐसी शाखा नहीं थी जिसका उन्हें ज्ञान नहीं था

और वह भी ''शास्त्र के अनुसार'' । वे छन्दःशास्त्र, आयुर्वेद तथा ज्योतिषशास्त्र में समान रूप में विद्वान् थे । वे असाधारण कोटि के कवि थे और उन्होंने संस्कृत में अपने गुरु की, देवियों तथा देवताओं की प्रशंसा में भक्तिभाव के माधुर्य से परिपूर्ण, जो उनकी समस्त रचनाओं में विशिष्ट रूप से है, कविताएँ रची ।

अपने विद्यागुरु के प्रति उनकी जो भक्ति थी, वह इन सबों से ऊपर थी और कुछ ऐसी थी जिसका वर्णन नहीं हो सकता । वे लगातार कई दिनों तक अपने विद्यागुरु की महत्ता का वर्णन करते रहते । वे अपने गुरु की पूजा में कभी थकते नहीं थे । उनके गुरु की भी समान रूप से उनसे प्रीति थी और वे हमारे स्वामी जी को विद्या की देवी, श्री शारदा के वरदपुत्र कहते थे । प्रत्येक दिन सर्वप्रथम वे अपने गुरुजी की पादुका की पूजा करते । उनके गुरुपादुका स्तोत्र स्पष्टरूप से यह दर्शाते हैं कि उन्होंने अपने गुरुजी जी की पादुका में कौन-कौन गुण लक्षित किये हैं ।

श्रीभारतीकृष्णतीर्थ महान् योगी एवं उच्चकोटि के सिद्ध पुरुष थे । उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं था । विशेषकर वे सच्चे संन्यासी थे । वे विश्व को एक ऐसे रङ्गमञ्च के रूप में देखते थे, जहाँ प्रत्येक को अपनी भूमिका निभानी थी । संक्षेप में वे निःसन्देह एक बहुत बड़े महात्मा थे । यद्यपि उन्होंने रहस्यों का अथवा गुप्त विद्याओं का कभी प्रदर्शन नहीं किया ।

।। श्रीहरिः ।।

* श्री गणेशाय नमः *

प्रकाशकीय

श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर निश्चलानन्द-सरस्वतीजी महाभाग के मन में पूर्वाम्नाय श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरी के १४३ वें श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वनामधन्य श्रीस्वामी भारतीकृष्णातीर्थजी महाराज के 'सनातनधर्म' नामक मूलग्रन्थ तथा उसके हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन की भावना थी । दैवयोग से पटना-निवासी स्वगर्यि श्रीविश्वेश्वरनाथमहरोत्राजी की भावना के अनुरूप उनकी पत्नी उषा महरोत्रा और उनकी पुत्री भारतीसेठजी ने सम्पर्क साधा और बताया कि श्रीमहरोत्राजी ने 'सनातनधर्म' का हिन्दी अनुवाद किया है तथा श्रीगोवर्द्धनमठ से इसके प्रकाशनकी भावना भी उन्होंने अपने जीवनकाल में व्यक्त की है । पूज्यपाद की प्रेरणा से पटनानिवासी श्रीमान् अशोकसिंहजी ने ग्रन्थ का कम्पोज करबाकर उषाजी को सौंपा । जब पूज्यपाद पटना पधारे तब उषाजी और श्रीमती भारतीजीने कम्पोज की हुई प्रति पूज्यचरण को समर्पित की । यथाशीघ्र ग्रन्थ प्रकाशित हो, ऐसी भावना दोनों ने व्यक्त की । श्रीमती भारतीजी ने यह भावना व्यक्त की कि माँके जीवनकाल में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय ।

पूज्यपाद ने यथावसर कम्पोज को पढ़ा । ग्रन्थ का

अनुवाद उन्हें पसन्द आया । परन्तु पुनः प्रेसकापी शुद्धरूप में तैयार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई । मूलग्रन्थ अङ्ग्रेजी में है । उसके अनुसार पूज्यपादने ग्रन्थको समुचित स्वरूप प्रदान किया और मुद्रण का कार्य मठके कम्पोजीटर श्रीदेवव्रत रथजी ने प्रारम्भ किया । चार-पाँच वार स्वयं प्रूफ शोधन कर पूज्यपाद ने यह ग्रन्थ प्रकाशित करवाया है । कतिपय स्थलों पर प्रसङ्गानुसार उन्होंने सम्पादकीय टिप्पणी भी सन्निहित की है । ग्रन्थ दार्शनिक, वैज्ञानिक और व्यावहारिक धरातल पर परमोपयोगी है ।

अनुवादक महोदय तथा उनकी पत्नी एवम् पुत्री सर्वतोभावेन सराहना के पात्र हैं ।

श्रीविश्वेश्वरनाथ महरोत्राजी की भावना के अनुरूप दोनोंने श्रीगोवर्द्धनमठ-ग्रन्थागार को उनकी आध्यात्मिक पुस्तकों को समर्पित कर, एक अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया है ।

निवेदक
स्वामी निर्विकल्पानन्दसरस्वती
५.४.२००९

।। श्रीहरिः ।।

* श्री गणेशाय नमः *

सम्पादकीय

पूर्वाम्नाय-श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरीपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्दसरस्वती

'सनातनधर्म' नामक ग्रन्थ के रचयिता पूर्वाम्नाय श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरी के १४३ वें श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाभाग हैं । जिनका 'वैदिक गणित' नामक ग्रन्थ विश्वविश्रुत है । मूलग्रन्थ अंग्रेजी में है । उसका यथावत् अनुवाद पटनानिवासी श्रीविश्वेश्वरनाथ महरोत्राजी ने किया है । स्वगर्यि श्रीमहरोत्राजी की भावना के अनुरूप उनकी धर्मपत्नी उषा महरोत्रा और पुत्री श्रीमती भारती सेठजी ने ग्रन्थानुवाद श्रीगोवर्द्धनमठ पुरी से प्रकाशित करने की भावना से मुझे पटना में समर्पित किया । मैंने मनोयोगपूर्वक अनुवाद को आदि से अन्त तक पढ़ा । उसे प्रकाशन के योग्य स्वरूप प्रदान किया । लगभग पाँचवार प्रूफ शोधन कार्य भी अगाध आस्था पूर्वक स्वयं किया । ग्रन्थ के कम्पोज का कार्य श्रीगोवर्द्धनमठ के परिकर श्रीदेवव्रतरथजी ने मनोयोग पूर्वक किया है तथा प्रकाशनप्रभारी श्रीसम्पत्-आचार्यजी ने इस सन्दर्भ में दक्षता-पूर्वक अपने दायित्व का निर्वाह किया है । तदर्थ श्रीरथजी और

आचार्यजी का स्नेहपूर्ण स्मरण आवश्यक है । हमारे निजसचिव श्रीनिर्विकल्पानन्दसरस्वतीजी का इस पवित्र कार्य के सम्पादन में सहयोग सर्वतोभावेन सराहनीय है ।

पूज्यपाद ग्रन्थकार महाभाग ने सनातनशास्त्रों से सर्वथा अपरिचित और उनके अध्ययन-श्रवण-अनुशीलनादि से सुदूर महानुभावों को भी सनातनधर्म को सुगम तर्क तथा वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से समझाने का सफल और सर्वतोभ्-ावेन सराहनीय कार्य किया है । उन्होंने प्रसङ्गानुसार यत्र-यत्र बाइबल के दृष्टिकोण का भी सामञ्जस्य सनातन सिद्धान्त से साधने का मनोरम प्रयास किया है ।

ग्रन्थ के हिन्दी रूपान्तर में मैंने सम्पादक के नाम से कतिपय स्थलों पर कोष्ठक के अन्तर्गत आवश्यक स्पष्टीकरण संलग्न किया है ।

इस ग्रन्थ के अध्ययन और अनुशीलनसे सनातनधर्म में अगाध और अडोल आस्था की स्फूर्त्ति स्वाभाविक है । तदनुसार आचरण से व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन का सर्वविध उत्कर्ष भी सुनिश्चित है ।

मैंने इस सम्पादकीय निबन्ध में विज्ञ पाठकों को सन्-ातनधर्म से सम्बद्ध ग्रन्थों में आस्थान्वित करने की भावना से शास्त्रीय दृष्टिकोण से शास्त्रीय शैली में सनातनधर्म के स्वरूप पर संक्षिप्त और सारगर्भित प्रकाश डाला है । स्वयं को प्रतिभासम्पन्न और प्रगतिशील माननेवाले सनातनधर्म और सनातनधर्मियों को प्रतिभा और प्रगति के परिपन्थी समझकर कोसते या उपहास करते पाये जाते हैं । जब कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है । 'श्रोतव्यः,

मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः' (बृहदारण्यकोपनिद् २.४.५) की उक्ति से श्रुति ने श्रवण के अनन्तर युक्तिपूर्वक विवेचन और धारण का उपदेश दिया है । प्रामाणिक श्रवण, युक्तिपूर्वक मनन और मननोत्तर अभ्यासपूर्वक धारण से ही वस्तुसाक्षात्कार सम्भव है । धर्माचरणपूर्वक वेद-वेदान्तों का अध्ययन तथा उनके सिद्धान्त को मानने की इच्छा को महर्षियों ने सुनिश्चित श्रेय माना है ।-

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदान्तानां तथैव च ।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व २८७.२२)

महर्षियों ने किसी भी न्यायोचित आचार को श्रौत-सद्धान्तानुसार 'शास्त्र' और अन्यायपूर्वक तर्क को 'अशास्त्र' कहकर सनातनधर्म की प्रशस्तता को अद्भुत-रीति से प्रतिपादित किया है ।

यः कश्चिन्न्याय्य आचारः सर्वं शास्त्रमिति श्रुतिः ।
यदन्याय्यमशास्त्रं तदित्येषा श्रूयते श्रुतिः ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व २६९.५८)

देवराज इन्द्र ने देवगुरु बृहस्पति का यह सुनिश्चित सन्देश प्रसारित किया है कि केवल शास्त्रवचन अथवा तर्कणापूर्ण बुद्धि से धर्म का निश्चय सम्भव नहीं है । धर्मनिर्णय सनातनशास्त्र और शास्त्रसम्मत तर्क दोनों के साहचर्य से सम्भव है ।

न धर्मवचनं वाचा नैव बुद्ध्येति नः श्रुतम् ।
इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व १४२.१७)

सम्पादकीय

महर्षियों का यह अद्भुत सन्देश है कि बुद्धि से विचार करने के पश्चात् जो कर्म किया जाता है, वह प्रशस्त होता है ।

बुद्धेः पश्चात् कर्म यत्तत् प्रशस्तम् ।

(महाभारत, शान्तिपर्व १२०.४२)

महर्षियों का यह स्पष्ट उद्घोष है कि जो कल्याणकारी उपदेश सुन कर अपने मत का आग्रह छोड़ उस ज्ञान को ग्रहण कर लेता है, उसके पीछे यह सारा जगत् चलता है ।–

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा ज्ञानं तत्प्रतिपद्यते ।
आत्मनो मतमृत्सृज्य तं लोकोऽनुविधीयते ।।

(महाभारत, शान्तिपर्व ९३.२८)

श्रुति–स्मृति और तदनुकूल तर्क के द्वारा ही धर्म का परिज्ञान सम्भव है, अन्यथा नहीं । ऐसा कहकर श्रीमन्वादि–महर्षियों ने तर्क का समादर किया है ।–

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।।

(मनुस्मृतिः १२.१०६)

उक्त रीति से 'सनातनधर्म जिज्ञासा की भावना के सर्वथा विरुद्ध है' – यह धारणा सर्वथा असङ्गत है ।

सनातनधर्म के विरुद्ध यह आरोप है कि ''सनातनधर्म प्रतिभा और प्रगति का सर्वथा बाधक है । यह जडवत् है, गति–शील नहीं है ।' परन्तु मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रार्थवित् मनीषियों की मेधाशक्ति या प्रतिभा को अस्वीकार करना सूर्य, चन्द्र, अग्नि और विद्युत् के अस्तित्व और इनकी उपयोगिता को अस्वीकार करने के सदृश है । विश्व में धर्मराज्य और रामराज्य की स्थापना

जिस धर्म के बलपर हुई, उसे प्रगति का बाधक मानना भी माता-पिता के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना पुत्र और पुत्री के अस्तित्व को स्वीकार करने के तुल्य है । इतना ही क्यों ?

विश्व को अद्भुत अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, मोक्षशास्त्र, दशमलवपद्धति, ज्योतिर्विज्ञान, छन्दःशास्त्र, वास्तुशास्त्र, व्याकरण एवम् भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, उत्सव-त्योहार, यातायात, रक्षा, सेवा, न्याय और विवाहादि अद्भुत विद्या प्रदान करनेवाले धर्म को प्रगति में बाधक किस मुँह से कहा जा सकता है ? पूर्वजन्म, पुनर्जन्म तथा विविध लोक-लोकान्तरों में आस्थान्वित कर इन्द्र, वारुण, कुबेरादि दिक्पाल पद प्राप्त करानेवाले कर्मोपासना के विज्ञान को अभिव्यक्त करनेवाला सनातन धर्म किस दृष्टि से अप्रगति-शील और निष्प्राण सिद्ध किया जा सकता है ?

प्रवृत्ति को निवृत्ति पर्यवसायिनी और निवृत्ति को निर्वृति (मुक्ति) पर्यवसायिनी बनाने की विद्या जिस धर्म में सन्निहित है, जिसमें सृष्टिविज्ञान साङ्गोपाङ्गनिरूपित है, उस धर्म को जड़ताग्रस्त सिद्ध कर पाना कैसे सम्भव है ? रामायण और महाभारत- जैसा ग्रन्थ जिसके पास है, गीता- जैसे ज्ञानालोक से जो उद्भासित है, ऋक्, यजुः, साम और अथर्व संज्ञक वेद जिस धर्म का उपजीव्य है, उसे किस प्रकार कुण्ठाग्रस्त सिद्ध किया जा सकता है ?

यह वह सनातन धर्म है, जिसने जीवों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति जिसके विज्ञानमात्र से सम्भव है, उसे ईश्वर के रूप में अर्थात् वास्तव आत्मा के रूप में उद्घोषित करता

है। जीव की चाहके निसर्गसिद्ध विषय का नाम ही आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर है । प्रत्येक प्राणी की भावना मृत्युरहित जीवन अर्थात् पूर्णसत्ता या अमृतत्व लाभ करने की है । प्रत्येक प्राणी की भावना मूर्खतारहित विज्ञान लाभ करने की अर्थात् चित्स्वरूप होने की है । प्रत्येक प्राणी की भावना दैहिक, दैविक और भौतिक - त्रिविध तापों से रहित आनन्दलाभ करने की है । प्रत्येक प्राणी की भावना पूर्ण स्वतन्त्र और सर्वनियामक होने की है । इस प्रकार प्रत्येक जीव सर्वस्वतन्त्र सर्वेश्वर सच्चिदानन्द रूप से अवस्थिति को मुक्ति स्वीकार करता है । इस मुक्ति को सुलभ करानेवाला धर्म जडतावादी कैसे हो सकता है ?

सर्वधारक, सर्वाधार, सर्वतारक धर्म - सनातनधर्म है । सर्वविध उत्कर्ष का विधायक धर्म सनातनधर्म है । षष्ठी तत्पुरुष में सनातन धर्म का अर्थ है- 'सनातनस्य धर्मः सनातनधर्मः' । अभिप्राय यह है कि सनातन सर्वेश्वर द्वारा महाप्रलय के पश्चात् प्रति महासर्ग के प्रारम्भ में ब्रह्मादि महर्षियों को उपदिष्ट धर्म सनातन धर्म है । सनातन सर्वेश्वर के साथ सनातनधर्म का 'स्थाप्य-स्थापकभाव' सम्बन्ध है ।

कर्मधारयसमासलभ्य सनातनधर्म का अर्थ है- 'सन्-ातन-श्चासौ धर्मश्च सनातनधर्मः' सदा रहनेवाला धर्म । 'सनातनयति इति सनातनः, सनातनं परमात्मस्वरूपं प्रापयति इति सनातनधर्मः' जो सनातन परमात्मा को प्राप्त कराता है, वह सनातनधर्म है । अभिप्राय यह है कि इस धर्म के मार्ग पर चलनेवाला अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार करके परमात्मस्वरूप को जाता है ।

सनातनधर्म
सम्पादकीय

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव ।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः ।।
(श्रीमद्भागवत ३.१६.१८)

''सनातन धर्म आपसे ही उत्पन्न हुआ है, आपके अवतारों द्वारा समय-समय पर उसकी रक्षा होती है तथा निर्विकारस्वरूप आप ही धर्म के परमगुह्य रहस्य प्राप्तव्य भी हैं ।।''

उक्त रीति से सनातन सर्वेश्वरसे समुत्पन्न और संरक्षित तथा सनातन सर्वेश्वर का प्रापक धर्म सनातनधर्म है ।

सनातनधर्म का क्षेत्र स्वभावसिद्ध आहार, निद्रा, मैथुनादि कर्मों को, शौचादि क्रियाओं को सर्वतोभावेन संयत और व्यवस्थित कर तथा यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, योगाभ्यास, देवोपासना और आत्मानुशीलनादि के द्वारा व्याधि, आधि, और अविद्याग्रस्त स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का शोधन कर जीव को शिवस्वरूप परमात्मरूपता प्रदान करने तक विस्तृत है । इस व्यापक अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अन्यत्र अदृष्टिगोचर है । जीव को अधोगति से विमुख कर ऊर्ध्वगति और परमात्मरूपता की स्थिति प्रदान करनेवाला धर्म सनातन धर्म है । इसका आदर्श विश्वकल्याण, सर्वहित, एकात्मवाद, एकेश्वरवाद और सर्वात्मवाद में सन्निहित है । सबको उत्कर्ष का क्रमिक सोपान प्रस्तुत कराकर कर्त्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य का अन्त अर्थात् पूर्ण कृतार्थता सुलभ कराना सनातनधर्म का अन्तर्निहित स्वरूप है ।

निःसन्देह सनातनधर्म में वर्णभेद और आश्रमभेद का विस्तृत उल्लेख मन्वादि धर्मशास्त्रों के अनुशीलन से प्राप्त है

। परन्तु वह भेद प्रकृतिप्रदत्त सर्वभेदों का सदुपयोग कर निर्भेद आत्मस्वरूप में मनः समाधान के उद्देश्य से है ।

माना कि ब्राह्मणादि सबके शरीर पाञ्चभौतिक हैं और आत्मा भी सब में एकरूप है, तथापि वर्णाश्रमादि भेद का तात्पर्य भेदभूमियों का अतिक्रमण करने के उपयुक्त जीवन में बल और वेग का आधान है । भेद की सिद्धि के लिये सनातनधर्म में भेद का विधान नहीं है ।-

विशेषेण च वक्ष्यामि चातुर्वर्ण्यस्य लिङ्गतः ।
पञ्चभूतशरीराणां सर्वेषां सदृशात्मनाम् ।।
लोकधर्मे च धर्मे च विशेषकरणं कृतम् ।
यथैकत्वं पुनर्यान्ति प्राणिनस्तत्र विस्तरः ।।

(महाभारत, अनुशासनपर्व १६४.११,१२)

''अब मैं चारों धर्मों का विशेषरूप से लक्षण बता रहा हूँ । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - इन चारों वर्णों के शरीर पञ्चमहाभूतों से ही बने हुए हैं और सबमें आत्मतत्त्व भी एक ही है । फिर भी उनके लौकिक धर्म और विशेष धर्म में विभिन्नता रखी गयी है । इसका उद्देश्य यही है कि सब अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए पुनः एकत्व को प्राप्त हों । इसका शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन है ।''

अध्रुवो हि कथं लोकः स्मृतो धर्मः कथं ध्रुवः ।
यत्र कालो ध्रुवस्तात तत्र धर्मः सनातनः ।।

(महाभारत, अनुशासनपर्व १६४.१३)

''तात ! यदि कहो कि धर्म तो नित्य माना गया है, फिर उससे स्वर्गादि अनित्य लोकों की प्राप्ति कैसे होती है ? और

होती है तो वह नित्य कैसे है ? तो इसका उत्तर यह है कि जब धर्म का सङ्कल्प नित्य होता है अर्थात् अनित्य कामनाओं का त्याग करके निष्कामभाव से धर्म का अनुष्ठान किया जाता है ; उस समय किये हुए धर्म से सनातन लोक (परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति होती है ।''

वर्णाश्रमधर्म में सबको सुबुद्ध, स्वावलम्बी और सत्यसहिष्णु बनाने की विधा है । शिक्षा, न्याय, रक्षा, अर्थ और सेवादि व्यवस्था समाज में सबको सदा सुलभ रहे, इसकी अनादि परस्पर प्राप्त सनातन वैज्ञानिक विधा का नाम सनातन वर्णव्यवस्था है । वंशपरम्परा से इसे न स्वीकार करने पर वैकाल्पिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि की संरचना में समय, सम्पत्ति का अनावश्यक उपयोग तथा अपेक्षित संस्कार का सङ्कोच और शिक्षा-रक्षादि विभागों में व्यक्ति की सङ्ख्या का असन्तुलन और वर्णसङ्करता एवम् कर्मसङ्करता सुलभ रुग्णतादि अन्य दोषों का प्रादुर्भाव सुनिश्चित है ।

वैज्ञानिक अनुसन्धानों और आविष्कारों को समुचित दिशा देने की क्षमता सनातनधर्म के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है । यान्त्रिक युग में पृथ्वी के धारक गोवंश, विप्र, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभ, दानशील एवम् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अनुकूल वातावरण की सुरक्षा सर्वथा असम्भव है । प्रगतिके नाम पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ से विहीन जीवन तथा प्रतिभा के नाम पर मृत्युग्रस्त, जड़ और दुःखप्रद शरीर तथा संसार की दासता ही सनातनधर्म विहीन विकास का पर्यवसान है । सनातन शास्त्रों में पृथ्वी के धारक तत्त्वों की

मुख्य सङ्ख्या चौदह है । जिनसे यज्ञादि धर्मों की निष्पत्ति और पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि सम्भव है ।-

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः ।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही ।।
(स्कन्दपुराणान्तर्गत काशीखण्ड २.९०)

''गायों, विप्रों, वेदों, सतियों, सत्यवादियों, लोभरहितों और सातवें दानशीलों के द्वारा पृथिवी धारण की जाती है ।''

धर्मः कामश्च कालश्च वसुर्वासुकिरेव च ।
अनन्तः कपिलश्चैव सप्तैते धरणीधराः ।।
(महाभारत, अनुशासनपर्व १५०.४१)

''धर्म, काम, सर्वार्थसाधक काल, अर्थसाधक वसु और वासुकि, मोक्षसाधक अनन्त और कपिल- ये सात धरणी के धारक तत्त्व हैं ।''

केवल अर्थ और काम अर्थात् धन और मान के लिये विद्या या शिक्षा का उपयोग करनेवाले धर्मद्रोही हैं । कारण यह है कि धर्म तो धर्म है ही, उससे अर्थ, काम ही नहीं, अपितु मोक्षरूप चरम पुरुषार्थ की सिद्धि भी सम्भव है ।-

आजिजीविषवो विद्यां यशःकामौ समन्ततः ।
ते सर्वे नृप पापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः ।।
(महाभारत-शान्तिपर्व १४२.१२)

''नृप ! जो जीविका की इच्छा से विद्या का उपार्जन करते हैं, सम्पूर्ण दिशाओं में उसी विद्या के बल से यश और मनोवाञ्छित पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, वे सभी पापात्मा और धर्मद्रोही हैं ।''

सम्पादकीय

धर्म्मादर्थश्च कामश्च मोक्षश्च त्रितयं लभेत् ।
तस्माद्धर्मो समीहेत विद्वान् स बहुधा स्मृतः ।।
(शिवपुराण–धर्मसंहिता २९.१)

''धर्म से अर्थ और काम तथा मोक्ष तीनों की समुपलब्धि सम्भव है । अत एव विद्वान् धर्म में आस्थान्वित रहता हुआ उसके समाचरण में स्वयं को संलग्न रखे । वह धर्म, यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, आत्मानुशीलनादि भेद से विविध प्रकार का मान्य है ।''

सनातनधर्म में सब की जीविका जन्म से सुरक्षित है । वर्तमान आरक्षणपद्धति में प्रतिभा और प्रगति का नाश, प्रति-शोध की भावना और परतन्त्रता तथा पतन सुनिश्चित है ।

पाश्चात्य शिक्षापद्धति और तदनुरूप जीविकोपार्जन की विधा से संयुक्त परिवार का पाश्चात्य जगत् के तुल्य उच्छेद सुनिश्चित है । संयुक्त परिवार के उच्छेद से सनातन कुलधर्म, जातिधर्म, कुलदेवी, कुलदेवता, कुलगुरु, कुलाचार, कुलसंस्-कृति का विलोप तथा वर्णसङ्करता और कर्मसङ्करता सुनिश्चित है । इस प्रकार सनातन धर्म की रक्षा के लिये पाश्चात्य शिक्षापद्धति और जीविकोपार्जन की विधा का सनातन संस्कृति के अनुरूप उपयोग और विनियोग नितान्त अपेक्षित है । तदर्थ धर्मनियन्त्रित पक्षपातविहीन शोषणविनिर्मुक्त शासनतन्त्र की स्थापना की भावना से स्वस्थव्यूह–रचनापूर्वक अथक और अमोघ प्रयास अत्यावश्यक है ।

स्वतन्त्र भारत में सत्तालोलुपता और अदूरदर्शिता के वशीभूत शासनतन्त्र ने पार्टी और पन्थों में देश को विभक्त कर

तथा देशवासियों को स्वयं और गिने-चुने सगे-सम्बन्धियों तक सीमित स्वार्थान्ध बनाकर राष्ट्र की विशेषकर हिन्दूओं के अस्तित्व और आदर्श की हत्या की है । व्यासपीठ और शासनतन्त्र की दिशाहीनता ने हमें पुनः भगवत्पाद आद्यशङ्कराचार्य और राजा सुधन्वा की शैली में कार्य करने के लिये विवश किया है । सर्व पन्थों, वादों, मतों में सामञ्जस्य साधन के लिये सनातनधर्म के इस आदर्श को विश्वस्तर पर स्वीकार कर क्रियान्वित करने की आवश्यकता है ।-

दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता ।
ह्रीरहिंसाऽव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ।।
(महाभारत शान्तिपर्व २९०.२०)

''इन्द्रियसंयम, क्षमा, धैर्य, तेज, सन्तोष, सत्यवादिता, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसन का त्याग तथा दक्षता ये सब सुखप्रद हैं ।''

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व १६२.२१)

''मन, वाणी और कर्मद्वारा सर्वप्राणियों के साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म है ।''

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व २५९.२०)

''मनुष्य दूसरों द्वारा किये हुए जिस व्यवहार को अपने

लिये वाञ्छनीय नहीं मानता, दूसरों के प्रति भी वह वैसा न करे । उसे यह जानना चाहिये कि जो हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार आदि वर्ताव अपने लिये अप्रिय है, वह दूसरों के लिये भी प्रिय नहीं हो सकता ।''

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः ।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व २९०.२४)

''मनुष्य दूसरे के जिस कर्म की निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे । जो दूसरे की निन्दा तो करता है, किन्तु स्वयं उसी निन्द्य कर्म में संलग्न रहता है, वह उपहास का पात्र होता है ।''

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथञ्चन ।।
(महाभारत शान्तिपर्व १२४.६७)

''अपना जो पौरुष और कर्म अन्यों के लिये हितकर न हो अथवा जिसे करने में सङ्कोच का अनुभव होता हो, उसे किसी तरह न करना चाहिये ।''

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैतत्प्रधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।
(पद्मपुराण, सृष्टि. १९.३५५, विष्णुधर्मोत्तर. ३.२५३.४४)

''धर्म का सार सुनें और सुनकर इसे धारण करें । दूसरों के द्वारा किये हुए जिस वर्तावको अपने लिये नहीं चाहते, उसे दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिये ।''

ध्यान रहे, लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष तथा अप-

वर्गसंज्ञक मोक्ष के सनातनमार्ग का त्याग कर विश्व ने विकाश के नाम पर विनाश की ओर और समृद्धि के नाम पर दरिद्रता की ओर द्रुतगति से प्रयाण करना प्रारम्भ किया है ।

परमेश्वर, प्रकृति, आकाश-वायु-तेज-जल और पृथ्वी के निसर्गसिद्ध स्वरूप से और धर्म तथा धर्मशील से विमुखता ही आज विकाश की परिभाषा है, जो कि वस्तुतः विनाश का विन्यास है । इसी प्रकार मद्य, चौर्य, असत्य, असंयम और अ-शुचि में अनुरक्ति को और स्नेह-सेवा-सहानुभूति-आत्मस्मृति के त्याग में प्रीति तथा प्रवृत्ति को समृद्धि का स्त्रोत माना जा रहा है, जो कि दरिद्रता का स्त्रोत है ।

चोरी, हिंसा, अनृत, दम्भ, लोभ, क्रोध, गर्व, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, द्यूत और मद्य - इन पन्द्रह अनर्थों (श्रीमद्भागवत ११.२३.१८-१९) से मुक्त अर्थ ही अर्थसंज्ञक और काम ही कामसंज्ञक पुरुषार्थ कहने योग्य है । फलेच्छा धर्म का मल है । सङ्ग्रह अर्थ का मल है । आमोद-प्रमोद काम का मल है । निर्मल धर्म, अर्थ और काम के सेवन से ही सुखमय जीवन और कैवल्य मोक्ष सम्भव है ।-

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् ।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व १२३.१०)

ध्यान रहे,

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।।
(श्रीमद्भागवत ७.१४.८)

सनातनधर्म
सम्पादकीय

''जितने अन्न से उदरपूर्त्ति हो जाय और जितने वस्त्र से तन ढक जाय, शीत-उष्ण का निवारण तथा शील-स्नेहादि की रक्षा हो जाय, देव-पितृ-अतिथि सेवादि कार्य का सम्पादन हो जाय, मनुष्य का अधिकार अपने लिये उतनी ही सम्पत्ति पर है। शेष धनपर अपना अधिकार माननेवाला परस्वत्वापहारी होने के कारण स्तेन (चोर) है। वह दण्डाधिकारी के द्वारा दण्ड पाने योग्य है।''

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥

(महाभारत, उद्योगपर्व ३३.६०)

''दो प्रकार का व्यक्ति गले में दृढ पत्थर बाँध कर गम्भीर जलाशय में डुवा देने के योग्य है - एक वह जो धनी होने पर भी अपेक्षित और अधिकृत स्थलों पर दान न दे और दूसरा वह जो दरिद्र होकर भी तपःशील उद्योगपरायण न हो॥''

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते॥

(श्रीमद्भागवत ११.१८.३४)

''युक्त आहार के लिये यत्न अवश्य करना चाहिये। कारण यह है कि प्राणधारण आहार से ही सम्भव है। प्राणधारण भी तत्त्वविचार के लिये कर्त्तव्य है। तत्त्वविचार से तत्त्वविज्ञान सुनिश्चित है। तत्त्वज्ञान से मोक्ष सुनिश्चित है॥''

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे

आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ।।
(श्रीमद्भागवत ५.१८.९)

''हे प्रभो ! विश्व का कल्याण हो ! दुष्ट दुष्टता का परित्याग कर प्रसन्न हो ! प्राणियों में परस्पर सद्भाव हो ! सब एक-दूसरे का हित चिन्तन करें, हमारा मन सुमार्ग में प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्कामभाव से सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीहरि में सन्निविष्ट हो ।।''

तत्त्वदर्शी महर्षियों और मुनियों द्वारा दृष्ट और प्रयुक्त लौकिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष के साधनों को परिस्कृत और क्रियान्वित करने में हम अवश्य ही अधिकृत हैं; परन्तु कृषि, भवन, वाणिज्य, यज्ञ, दान, तप आदि से सम्बद्ध सनातन विज्ञान का परित्याग कर नवीन उद्भावना और प्रयोग का आलम्बन लेने पर विकास के स्थानपर विनाश का पथ ही प्रशस्त कर सकते हैं । अतएव प्राचीन दर्शन का देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप अवबोध और क्रियान्वयन का प्रक्रम ही सर्वहितप्रद और सुखप्रद है । –

अस्मिँल्लोकेऽथवामुस्मिन्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये ।।
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान् ।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा ।।
ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम् ।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ।।
(श्रीमद्भागवत ४.१८.३-५)

''तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस लोक और परलोक में मनुष्यों

के कल्याण करने के लिये कृषि, अग्निहोत्रादि बहुत से उपाय निकाले और काम में लाये हैं । उन प्राचीन ऋषियों के बताये हुए उपायों का इस समय भी जो श्रद्धापूर्वक भलीभाँति आचरण करता है, वह सुगमता से अभीष्ट फल प्राप्त कर लेता है । परन्तु जो अज्ञानी उनका अनादर करके अपने मनःकल्पित उपायों का आश्रय लेता है, उसके सभी उपाय और प्रयत्न पुनः-पुनः निष्फल होते हैं ।।''

सनातनधर्म में फल चौर्य नहीं है । ब्रह्मणादि अपने-अपने कर्मों का भगवत्समर्पण बुद्धि से अनुष्ठान कर सद्गति प्राप्त करते हैं ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिः लभते नरः ।
(श्रीमद्भगवद्गीता १८.४५)
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।
(श्रीमद्भगवद्गीता १८.४६)

निवेदक
निश्चलानन्दसरस्वती
१५.१.२०६६
श्रीहनुमज्जयन्ती (चैत्रशुक्लपूर्णिमा)
२०६६

।। श्रीहरिः ।।

* श्री गणेशाय नमः *

सारार्थसन्देश

पूर्वाम्नाय-श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरीपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्दसरस्वती

पूर्वाम्नाय श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरीपीठ के १४३वें श्री-मज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वनामधन्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाभागने 'सनातनधर्म' नामक ग्रन्थके 'प्रस्तावना' नामक प्रथम निबन्ध में यह तथ्य प्रकाशित किया है कि सनातनधर्म युगचेतना को निर्मित करने का पक्षधर है । यह पक्षपात तथा पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त तथा जिज्ञासाओं को प्रोत्साहित क-रनेवाला है । यह प्रगतिशील है । लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष का विधायक तथा मोक्ष का सम्पादक है । यह अक्षय अमृतत्व, अखण्ड बोध, अनन्त आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य और निरङ्कुश नियामकता का प्रदायक है । इसके अनुसार आत्मदेव वस्तुतः पूर्णस्वतन्त्र, सर्वनियामक सच्चिदानन्दस्वरूप है । अनादि अविद्या, काम और कर्म के वशीभूत होने के कारण ही इसके वास्तविक स्वरूप-वैभव की अस्फूर्त्ति इसके अपकर्षका मूल कारण है ।

'सनातनधर्म का अर्थ' नामक द्वितीय निबन्ध में यह

तथ्य प्रकाशित किया गया है कि सनातनधर्म शिक्षा, न्याय, रक्षा, वाणिज्य, सेवा, कृषि, ग्रह-नक्षत्र, सृष्टि-स्थिति-प्रलय, निग्रह, अनुग्रह, कर्म, उपासना, ज्ञान, न्याय, ज्योतिष, अध्यात्म आदि विविध विज्ञानों का पुञ्जीभूत स्वरूप है । यह जीवन और जगत् को धारण करनेवाले तत्त्वों का विज्ञान तथा सर्वहित का शाश्वत संविधान है । सनातन सर्वेश्वर द्वारा प्रचलित तथा सनातन जीवों को समष्टि हित में संलग्न रखता हुआ सनातन सर्वेश्वर को प्राप्त करानेवाला सनातन सर्वेश्वर से संरक्षित सर्वकाल, सर्वदेश और सर्ववस्तु में सन्निहित सर्वसुखप्रद धर्म सनातनधर्म है । इसमें दक्षता के साथ शुचिता का, प्रीति के साथ नीति का, स्वार्थ के साथ परमार्थ का तथा लोकके साथ परलोकका और भोग के साथ मोक्ष का आदर्श सन्निहित है ।

'सनातनधर्म तर्क-बुद्धिका विरोधी नहीं' नामक तीसरे निबन्ध में इस तथ्य का प्रकाश किया गया है कि धर्म ईश्वर के द्वारा व्यक्त शब्द (सिद्धान्त) है और विज्ञान प्रकृति के द्वारा व्यक्त शब्द (सिद्धान्त) है ।

सनातनधर्म में ग्रहण, पर्व, यज्ञ, दान, तप आदि के विधि-निषेध सर्वथा पूर्ण वैज्ञानिक हैं । इसके व्रत, उत्सव, त्योहार, ऋतु के अनुसार आहर-विहार और विवाहादि सकल व्यवहार पूर्ण व्यवस्थित तथा सुख-शान्तिप्रद हैं । सनातन ध-र्मानुसार शय्या, आभूषण, भवन, शयन, जागरण, स्नान, पूजन, श्राद्ध, तर्पण, शुद्धि, अशुद्धि, स्पर्शास्पर्श - सब में वैज्ञानिकता सन्निहित है । अतः इसका उपहास अज्ञता अथवा विद्वेषवश ही

सम्भव है । सनातन पूजन-पद्धति के सन्दर्भ में प्रयुक्त विविध मुद्रा तथा नक्षत्र-ग्रहों के अवलोकन की विविध विधा सर्वथा वैज्ञानिक धरातल पर भी सुसङ्गत हैं ।

'अधिकारी भेद' नामक चौथे निबन्ध में यह तथ्य प्रसारित किया गया है कि कर्मशील, भावनाशील और बोधशील तीन प्रकार के मनुष्य हमें परिलक्षित होते हैं । तदनुसार सब धर्मों में विशेष कर सनातनधर्म में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का विधान है । अधिकार और अभिसन्धि के अनुरूप कर्म, भावना और बोध के सदुपयोग और शोधन की सनातन विधा का नाम सनातनधर्म है । कर्म के मूल में भावना और भावनाके मूल में ज्ञान के कारण इनमें क्रमबद्धता भी है । आरोहक्रम में कर्मयोगी भक्तियोगी और भक्तियोगी ज्ञानयोगी होते हैं । इस प्रकार यह पन्थ नहीं ; अपितु धर्म है । सनातनधर्म में सबके विकास और कल्याण का क्रमिक सोपान सुलभ है । इसमें चिकित्सापद्धति के तुल्य साधन में विभेद हितप्रद है ।

'हमारे धर्म के सम्बन्ध में मिथ्या धारणा' - नामक पाँचवें निबन्ध में यह सिद्ध किया गया है कि सनातनधर्म सर्वेश्वर के द्वारा विनिःसृत और उपदिष्ट धर्म है । अतः इसमें सब के हित का सब काल और सब परिस्थिति में ध्यान रखा गया है । भारत आर्यों का मूल देश है । यह सर्गकाल से आर्यावर्त है । बुद्धि का स्वभाव सत्य का पक्षधर होना है- 'तत्त्वपक्षपातो हि स्वभावो धियाम् ।'' अतः दुराग्रह और छल का त्याग कर सत्य को स्वीकार करने में ही सर्वहित सन्निहित है । ग्रहों के प्राची दिक् में

उदय के तुल्य शिक्षा, रक्षा, न्याय, चिकित्सा, ग्रह-नक्षत्र, गणित आदि विज्ञानोदय की दिशा भी पूर्व ही है । भारत हृदयतुल्य मध्यवर्त्ती राष्ट्र है । इसका मानचित्र भी नास्पाती के तुल्य विश्व का हृदय के समान है ।

'हमारी सामाजिक प्रणाली' नामक छठे निबन्ध में कहा गया है कि सनातनधर्म में स्त्रियों को मातृसंज्ञा जन्मसे सुलभ है । वे विराट् के अर्द्ध अङ्ग से प्रादुर्भूत हैं । उनका तिरस्कार विश्वकी धारक-शक्तियों का तिरस्कार है । देवियों के शील की रक्षा राष्ट्ररक्षा है, स्वयं की रक्षा है । उन्हें जगदीश्वर और जगदीश्वरी तक को गर्भ में धारण करने का अधिकार और गौरव प्राप्त है । वे गार्गी, सुलभा आदि ब्रह्मवादिनी रूप से विख्यात हैं । लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा रूप से पूज्या हैं । वंश का संरक्षण और पालन उनके स्वभाव में अनुगत होने से स्वभाव के सर्वथा अनुरूप है । अतः उन्हें गृहणी कहा गया है । उन्हें शीलरक्षा और वंश-परिपालन के अविरुद्ध और अनुकूल दायित्व का निर्वाह कर विश्व को व्यवस्थित रखने में स्वस्थ भूमिका प्रस्तुत करनी चाहिये । समानाधिकार के नाम पर गृहलक्ष्मी को नौकरानी बनाना और बालक तथा बालिकाओं को उनके वात्सल्य से विमुख रखकर विकल बनाना विकास के नाम पर विनाश है ।

सनातन विवाहपद्धति में सन्निहित वैज्ञानिकता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सनातन विवाहपद्धति और वर्णाश्रम व्यवस्था का उपहास कभी नहीं करना चाहिये । रक्त के ४८ प्रभेद के

आधार पर मनुष्यों का आधुनिक वैज्ञानिक वर्गकिरण क्या सनातनधर्म में ब्राह्मणादि चार वर्ण और अनुलोम-प्रतिलोम विवाह प्रथा से प्राप्त सन्तान के वर्गकिरण का द्योतक विज्ञान नहीं है ? सनातनधर्म की अस्पृश्यता को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझना और देखना चाहिये, न कि उसे घृणा और विद्वेषमूलक मानकर भ्रमित होना चाहिये ।

'सनातनधर्म तथा विज्ञान' नामक सातवें निबन्ध में यह सिद्ध किया गया है कि धर्म और विज्ञान में कोई संघर्ष नहीं है । इनमें विरोध नाममात्र का हो सकता है । धर्म तत्त्वज्ञों द्वारा उल्लिखित ईश्वरीय नियम वस्तुतः वही है, जिसे वैज्ञानिक प्राकृतिक नियम कहते हैं । धर्मचक्र और प्राकृतिक नियम में धर्मचक्र का ज्ञान धर्मग्रन्थों से होता है और प्राकृतिक नैसर्गिक नियमों का परिज्ञान विज्ञान के माध्यम से होता है । जब प्रकृति ईश्वरीय शक्ति का नाम है, तब ईश्वरीय नियमों और प्राकृतिक नियमों में वास्तविक भेद कहाँ सम्भव है ? दोनों में संघर्ष का कारण धर्ममूल ईश्वर या प्रकृति को समझने में भूल के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है ?

'धर्मों की मूलभूत एकता' नामक आठवें निबन्ध में यह तथ्य प्रकट किया गया है कि ईसाई तथा इसलाम धर्म में वर्षों के संघर्ष का इतिहास आपाततः धर्मों में संघर्ष सिद्ध करता है । परन्तु इस प्रकार के संघर्ष का कारण समझ में अन्तर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । देश, काल, पात्रभेद से धर्म में भेद सिद्ध है । अधिकार और अभिरुचि में विलक्षणता के कारण भी एक ही धर्म में विविध भेद परिलक्षित है । परस्पर

सद्भावपूर्ण संवाद से तथा स्तरभेद से वस्तुस्थिति को समझने का प्रयास करने पर धर्म के नाम पर संघर्ष सर्वथा असम्भव है । सत्यसहिष्णुता की क्रमिक अभिव्यक्ति में धर्मग्रन्थों का तात्पर्य सन्निहित है । दया, स्नेह, सहानुभूति, संयम, सत्य, अपनत्व के त्याग का कोई भी धर्म और धर्माचार्य कैसे उपदेश दे सकते हैं ? भारत ने बौद्ध, पारसी, ईसाई, मुसलमान इन सबों को जिस आधार पर अपनाया, वह सहिष्णुता और सहृदयता अन्य धर्मावलम्बियों में भी अपेक्षित है । एक धर्माचार्य दूसरे धर्म में देश, काल, परिस्थिति और प्रयोक्ता के कारण प्राप्त विकृतियों का ही निराकरण करते हैं, न कि उसके मौलिक सिद्धान्त और स्वरूप का ? यदि कोई धर्म सर्वथा त्याज्य ही सिद्ध होता है, तब उसे धर्माभास ही समझने की बाध्यता है । इसी प्रकार पञ्च देवोपासकों में व्याप्त विद्वेष भी वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता के कारण ही सिद्ध है। एक ही भगवान् वेदव्यास द्वारा विरचित शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव पुराणों में परस्पर विद्वेष की बात कैसे सम्भव है ? सात्त्विक, राजस, तामस भेद से अधिकारियों में भेद है । इसी प्रकार एक सर्वेश्वर की विविध रूपों में अभिव्यक्ति लीलासिद्ध प्रयोजन विशेष की पूर्त्ति की भावना से है । लक्षणसाम्य से वस्तुसाम्य का नियम यहाँ भी चरितार्थ और अकाट्य है । कार्यब्रह्म की अपेक्षा कारणब्रह्म की तथा कारणब्रह्म की अपेक्षा कार्यकारणातीत पर ब्रह्म की महत्ता पर ध्यान दें तो सर्वत्र सङ्गति प्राप्त है और विसङ्गति अप्राप्त है ।

शरीर में मस्तिष्क, हाथ, उदर, चरणादि में भेद है, सबके पृथक्-पृथक् कार्य हैं, परन्तु सब जीव के उपकारक हैं,

जीवन के सञ्चालक हैं । इनमें सामञ्जस्य है । श्रोत्रों से सुनना और वाक्से बोलना, नेत्रों से देखना और चरणों से चलना यह पार्थक्य और सामञ्जस्य क्या सनातनधर्म के भेद और सामञ्जस्य का रहस्य नहीं बताते हैं ? श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय हैं, वाक् कर्मेन्द्रिय है । दोनों आकाशीय हैं । आकाश का गुण शब्द है । श्रोत्रसे शब्द का ग्रहण और वाक् से शब्द का विसर्जन सम्भव है । नेत्र ज्ञानेन्द्रिय हैं और चरण कर्मेन्द्रिय हैं । दोनों तैजस हैं । तेज का गुण रूप है । गन्तव्य का दर्शन नेत्रों से सम्भव है । गन्तव्य तक गमन चरणों से सम्भव है । ज्ञानेन्द्रियाँ सात्त्विक हैं और कर्मेन्द्रियाँ राजस है । अतः ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-सम्पादन और कर्मेन्द्रियों से कर्म-सम्पादन सम्भव है । त्वक् ज्ञानेन्द्रिय है । कर कर्मेन्द्रिय है । दोनों वायव्य हैं । वायु का गुण स्पर्श है । सात्त्विक त्वक् से स्पर्शग्रहण और राजस करसे स्पर्शविसर्जन सम्भव है ।

रसन ज्ञानेन्द्रिय है । लिङ्ग कर्मेन्द्रिय है । दोनों वारुण हैं । जल का गुण रस है । रसेन्द्रिय से रसग्रहण और लिङ्ग से रसविसर्जन सम्पादित है । नासिका ज्ञानेन्द्रिय है और गुदा कर्मे-न्द्रिय है । दोनों पार्थिव हैं । पृथ्वी का गुण गन्ध है । नासिका से गन्ध-ग्रहण और गुदा से गन्ध-त्याग सम्भव है ।

उक्त रीति से सनातन-वैदिक-आर्य-हिन्दूधर्म मतभ-ेदों से निपटने के लिये पर्याप्त व्यवस्था करता है । हिन्दूधर्म अधिकारभेद को स्वीकार करता है । यह एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिये विभिन्न मार्गों और सोपानों की व्यवस्था करता है । यह ''जीओ और जीने दो, सुबुद्ध बनो और सुबुद्ध बनाओ, सुखी रहो और सुखी बनाओ'' की नीति को अपनाता है ।

सनातनधर्म
सारार्थसन्देश

'भारत का धार्मिक अतिथि सत्कार' नामक नवें निबन्ध में यह सिद्ध किया गया है कि हिन्दूधर्म के सनातन धर्मशास्त्रों ने एक स्वरसे इस बात पर बल दिया है कि सब धर्म ऐसे मार्ग हैं, जो एक ही ईश्वर की ओर से जाते हैं और उनकी एकमात्र कसौटी है, हृदय की शुद्धता तथा निष्कपटता । अन्य प्रजातियों और धर्मों के लोगों से सक्रिय सहयोग और समन्वय के दृष्टिकोण के कारण विश्वस्तर पर भारत की सराहना है । ज्वलन्त उदाहरण है पूर्सिया (ईरान) से शरणागत के रूप में गुजरात आये पारसियों को यादवराजा द्वारा तत्कालीन श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य की प्रेरणा से समुचित सम्मान, सुरक्षा और सुविधा प्रदान कर बसाना । इसी प्रकार रोमन साम्राज्य की सैन्यशक्ति से उत्पीडित सेंट थामस को उनके सहयोगियों सहित कालीकट के तत्कालीन नरेश ने समुचित सम्मान, सुरक्षा और सुविधा प्रदान कर ब-साया । ट्रावनकोट के सिरीयन क्रिश्चियन समुदाय विश्व की ईसाई वस्तियों में प्राचीनतम मान्य है । अफगानिस्तान आदिके मुसलमान भारत में आक्रमणकारी के रूप में घुसे, अतः भारत में उनका विरोध हुआ । शनैः-शनैः उन्होंने दिल्ली को अपना स्थान बनाया और यहाँ के मूल निवासियों का अपनत्व प्राप्त किया ।

स्वयं आद्य शङ्कराचार्यजी ने सौर, वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और आग्नेय संज्ञक छः सम्प्रदायों में सामञ्जस्य साधा । बौद्धमत में कालक्रम से व्याप्त विकृतियों का शोधन किया, किन्तु बौद्धों के आस्थाकेन्द्र बुद्ध को 'सन्तों में सबसे महान्,

ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ तथा मुनियों में सर्वोपरि' कहा ।

'मानवता का लक्ष्य' नामक दशवें निबन्ध में यह सिद्ध किया गया है कि मनुष्य मृत्यु, मूर्खता, दुःख, परतन्त्रता और अप्रभुता से पूर्ण त्राण चाहता एवम् पूर्ण सत्ता, चित्ता, प्रियता, स्वतन्त्रता और प्रभुता या नियामकता चाहता है । उसके उद्देश्य की पूर्त्ति सर्वस्वतन्त्र, सर्वनियामक सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वर की आत्मीय-भावना से आराधना और उनकी आत्मरूपता के विज्ञान से ही सम्भव है ।

वह सर्वेश्वर पूर्ण विज्ञानस्वरूप और वैज्ञानिक है । वह स्वयं को ही सर्वरूपों में व्यक्त करता है । कोई भी वैज्ञानिक ईश्वरीय शक्ति प्रकृति से उपहार रूप में प्राप्त लोहा, काष्ठ, अग्न, जल, वायु आदि का उपयोग कर इनमें सन्निहित बहुभवन (विविध रूप में अवतरण)-सामर्थ्य का ईश्वरानुग्रह से विज्ञान प्राप्त कर किसी सामग्री या यन्त्रादि की संरचना करता है । वह किसी वस्तु की उत्पत्ति या निरवशेष नाश नहीं स्वीकार करता । 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २.१६) । यह श्रीकृष्णचन्द्र की उक्ति दार्शनिक जगत् के तुल्य वैज्ञानिक जगत् में पूर्णतः चरितार्थ है कि ''जिसका पूर्वसिद्ध अस्तित्व नहीं है, उसका आविर्भाव असम्भव है और जिसका सर्वथा अभाव ही है, उसका अस्तित्व और उसकी प्रयोजनसाधकता सम्भव नहीं है और जिसकी आविर्भाव के अनन्तर प्रयोजन साधकता सम्भव है, उसका पुनः अभाव अर्थात् अस्तित्व-विलोप असम्भव है, अर्थात् उसकी अदर्शनात्मक कारणभावापत्ति ही सम्भव है, न

कि सत्ता की असिद्धि ।'' इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र के शब्दों में असत् कारणवाद ही नहीं, अपितु असत् कार्यवाद भी निरस्त ही है । इतना ही नहीं, जिसका आविर्भाव और तिरोभाव सम्भव है तथा आविर्भाव और तिरोभाव करनेवाली जो मायाशक्तिरूपा प्रकृति विज्ञान का उद्गम स्त्रोत है, वह भी जिसकी सत्ता, चित्ता और प्रियता से उद्भासित है, वही सनातनियों का सनातन ब्रह्म है ।–

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।
(श्रीमद्भगवद्गीता ९.१०)

'तीन प्रकार के योग' नामक ग्यारहवें निबन्ध में यह तथ्य सिद्ध किया गया है कि मानव मस्तिष्क की विविधता के कारण अभिरुचि और अधिकार में भी विभेद स्वाभाविक है । अतः कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का वर्णन सनातन शास्त्रों में और अन्य धर्मग्रन्थों में प्राप्त है । भक्तियोग कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों के लिये उपकारक है । मनुष्य अपने कष्ट के स्वरूप को, उसके मूल को, उसके निवारण के अमोघ उपाय को और निवृत्ति की दशा को यथावत् समझ नहीं पाता । समझ भी ले तो वह क्लेशनिवारण के संसाधनों को प्राप्त कर उसका समुचित उपयोग भी नहीं कर पाता । भगवान् सर्वहितैषी, सर्वहितज्ञ, सर्वहित में तत्पर और समर्थ हैं । उनके समाश्रय से जीवों का पूर्ण कल्याण सुगमतापूर्वक सम्भव है। अतः भक्तियोग निरुपद्रव है । नरश्रेष्ठ अर्जुन ने नारायण–स्वरूप श्रीकृष्ण के प्रति स्वयं को

सर्वतोभावेन समर्पित कर स्वयं को सन्तृप्त किया । तद्वत् हमें भी सर्वसमर्थ करुणावरुणालय श्रीहरि का समाश्रय प्राप्त करना चाहिये । भक्तियोग में 'मार्जारन्याय' चरितार्थ है । प्रणतपाल भगवान् उसी प्रकार बालक सुत-सदृश प्रणत की रक्षा करते हैं, जैसे बिल्ली अपने शिशु को अपने मुख से पकड़कर सुरक्षित स्थान तक पहुँचाती है । ज्ञानयोग में 'मर्कटन्याय' चरितार्थ है । प्रौढ़ सुततुल्य भक्त बन्दर के बच्चे के तुल्य स्वयं ही भगवान् से संलग्न रहकर सुरक्षित रहता है । कभी-कभी बन्दर का बच्चा इधर-उधर झाँकता है, माँ उसे असुरक्षित समझकर हाथ से उसे अपनी छाती से चिपक जाने को प्रेरित कर उसे सङ्कट से बचा लेती है । तद्वत्, ज्ञानी की भी प्रभु ही पतन के अवसर पर रक्षा करते हैं ।

'आत्मा की अमरता' नामक बारहवें निबन्ध में यह निर्देशित किया गया है कि आत्मा का देह के नाश से नाश नहीं होता और देहभेद से आत्मा में भेद नहीं होता । देह के परिवर्तन से आत्मा परिवर्तित नहीं होनेवाला तत्त्व है । अर्थात् वह सत् है । इतना ही नहीं, वह ज्ञानस्वरूप है और आनन्दरूप भी । अनात्मवस्तुओं की दासता उसे स्वरूपतः सुलभ नहीं है, अतः वह स्वतन्त्र है । अनात्मवस्तुएँ परार्थ हैं, अतः वह नियामक भी है । मृत्यु, मूर्खता, दुःख, परतन्त्रता और अनियामकता उसे अज्ञानवश ही सुलभ है । ज्ञानमार्ग में आत्मा के श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे साधक भृङ्गी के ध्यानमें निमग्न कीटविशेषके तुल्य अनात्मवस्तुओं के अनुरूप आत्ममान्यता का त्याग कर

आत्ममात्र शेष रहता है । यह 'भृङ्गीकीटन्याय' है ।

'ईश्वर तथा मनुष्य के विषय में' नामक तेरहवाँ निबन्ध यह सिद्ध करता है कि जैसे महाकाश ही घटगत घटाकाश है, वैसे ही विभु परमात्मा ही देहगत आत्मा है । आत्मा का स्वाभाविक लक्षण सत्, चित् और आनन्द, स्वातन्त्र्य और नियामकता है । यही कारण है कि आप बीमार क्यों हैं ? अमुक मर क्यों (कैसे) गये ? आप में इतनी नासमझी क्यों है ? आप दुःखी क्यों हैं ? आपमें परतन्त्रता क्यों है ? आप अपने बाल-बच्चे, नौकर-चाकर, पत्नी आदि पर नियन्त्रण क्यों नहीं कर पाते ? आदि प्रश्न आत्मा में मृत्यु, मूर्खता, दुःख, परतन्त्रता और अप्रभुता आगन्तुक सिद्ध करते हैं, न कि स्वाभाविक ।

'शाङ्करवेदान्त' नामक चौदहवें निबन्ध में यह निरूपित हुआ है कि भ्रमवश भगवत्पाद शङ्कर के सिद्धान्त को कोसा जाता है । उन्होंने ब्रह्म को सत्य कहा और जगत् को मिथ्या तथा जीव को ब्रह्म कहा है- 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' (ब्रह्मज्ञानावलीमाला २०) । जो कि औपनिषदसिद्धान्त ही है । ब्रह्म की सत्यता श्रौतप्रस्थान में आस्थान्वित ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करनेवालों को मान्य ही है । जब वे ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण स्वीकार करते हैं, तब जीव को ब्रह्म से पृथक् किस आधार पर मान सकते हैं ? जीव तो ब्रह्म के व्यष्टिरूप का ही औपाधिक स्वरूप है, जो कि वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है । रही बात जगत् के मिथ्यात्व की । जगत् ब्रह्म के तुल्य कूटस्थ सत्य नहीं है और बन्ध्यापुत्र के तुल्य असत् नहीं है,

अतः मध्यवर्ती शब्द उसके लिये 'मिथ्या' प्रयुक्त है । परमार्थ सत्य से न्यून सत्य व्यावहारिक सत्य है, उस का नाम ही मिथ्या है । मृत्तिका की अपेक्षा घट न्यून सत्य है और घटकी अपेक्षा मृत्तिका पूर्ण सत्य है, इसे स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ?

'निष्कर्ष' नामक पन्द्रहवें निबन्ध में यह तथ्य दर्शाया गया है कि भारत सब ज्ञान-विज्ञान का उद्गम स्त्रोत है । जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियों में सन्निहित कर उष्ण, मलिन और नमकीन जल को भी शीतल, शुद्ध और मधुर बनाकर वर्षा देता है, उसी प्रकार विदेशी और विदेशियों के सम्पर्क से भा-रतीय विकृत विज्ञान को भी परिष्कृत करने का कार्य भारत के मनीषियों का है । विश्वस्तर पर धर्मनियन्त्रित पक्षपात-विहीन शोषण-विनिर्मुक्त शासनतन्त्र की स्थापना तथा वैदिक विज्ञान के सार्वभौम सर्वहितप्रद स्वरूप की सर्वत्र प्रस्थापना सनातन वैदिक आर्य हिन्दुओं का पवित्र और जन्मसिद्ध दायित्व है ।

'परिशिष्ट' नामक निबन्ध में सिद्धान्त के नाम पर अना-वश्यक संघर्ष और सामञ्जस्य के नामपर सिद्धान्त का परित्याग अनुचित बताया गया है । सम्मानपूर्वक अपने अस्तित्व और आदर्श की रक्षा के लिये कदाचित् साम आदि अन्य कोई उपाय और उद्योग सफल न हो रहा हो, तब युद्ध अवश्य कर्त्तव्य है । आदर्श को विलुप्त कर जीवित रहने की भावना गर्हित है । परन्तु सब के प्रति स्नेह, सद्भाव, सहानुभूति, सर्वहित की भावना

।। श्रीहरिः ।।
* श्रीगणेशाय नमः *

सनातनधर्म की चौबीस विशेषताएँ

श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्दसरस्वती

प्रश्न— यदि सर्वधर्मों का गन्तव्य एक ही है, सबके आदर्श एक ही हैं, तब सनातनधर्म के अतिरिक्त धर्म किञ्चित् काल तक ही किसी व्यक्ति या वर्ग अथवा क्षेत्रविशेष को उन्नत कर स्वयं को समाप्त क्यों कर लेते हैं ?

उत्तर— ''तत्त्वपक्षपातो हि स्वभावो धियाम्''- 'सत्य का पक्षधर होना बुद्धि (जीव) का स्वभाव है'- इस सूक्ति में आस्थान्वित रहते हुए उक्त प्रश्न का उत्तर हृदयङ्गम करने योग्य है।

(१) सनातनधर्म में लक्ष्य का निर्धारण सुस्पष्ट है। इसके अनुसार प्रलयोत्तर महासर्ग के प्रारम्भ में सर्वेश्वर जीवों को देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणों से युक्त जीवन की तथा बाह्य जगत् की संरचना इस अभिप्राय से करते हैं कि पूर्व कल्पों में अकृतार्थ प्राणी पुरुषार्थचतुष्टय के माध्यम से भोग और मोक्ष सुलभ कर सकें।-

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ।।

(श्रीमद्भागवत १०.८७.२)

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष - पुरुषार्थचतुष्टय हैं। भोग्य-

सामग्री का नाम अर्थ है । भोग्य–सामग्री के उपभोग का नाम काम है । अर्थोपार्जन और विषयोपभोग की भोग और मोक्ष के अविरुद्ध और अनुकूल विधा का नाम धर्म है । मृत्यु, मूर्खता, दुःख, परतन्त्रता और अनियामकता की आत्यन्तिकी निवृत्ति और स्वतन्त्रता तथा प्रभुतासम्पन्न सच्चिदानन्दरूपता की समुपलब्धि मुक्ति या मोक्ष है ।

सनातनधर्म में आहारादिरूप काम की सिद्धि के लिये अनिन्द्य कर्मरूप धर्म का सम्पादन विहित है । आहारादि में प्रवृत्ति विषयोपभोग की लम्पटता के लिये नहीं, अपितु प्राणरक्षार्थ विहित है । प्राणसंधारण भगवत्तत्त्वकी जिज्ञासा के लिये विहित है । तत्त्वजिज्ञासा तत्त्वबोध प्राप्त कर दुःखों के आत्यन्तिक उच्छेद की भावना से विहित है ।–

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम् ।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते ।।
(श्रीमद्भागवत ११.१८.३४)

अत्राहारार्थं कर्मकुर्यादनिन्द्यं
कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम् ।
प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ।।
(योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण २१.१०)

सनातनधर्म के अनुसार धर्म का वास्तव फल मोक्ष है । धर्मानुष्ठान से सुलभ अर्थ के द्वारा धर्मानुष्ठान और तत्त्वचिन्तन के अनुरूप जीवन की समुपलब्धि विहित है । अर्थ का विनियोग

विषयलम्पटता की परिपुष्टि में निषिद्ध है ।–

धर्मस्य ह्यपवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।
(श्रीमद्भागवत १.२,९,१०)

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को वास्तव पुरुषार्थ का रूप प्रदान करने के लिये चारों के मल का शोधन आवश्यक है । फलेच्छा धर्म का मल है, सङ्ग्रह अर्थ का मल है, आमोद और प्रमोद काम का मल है और द्वैताभिनिवेश मोक्ष का मल है ।–

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् ।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व १२३.१०)

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ।।
अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत्कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ।।
(श्रीमद्भागवत ११.२.३७,३८)

यद्यपि आत्मदेव अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही

है ; तथापि अनादि अविद्या, काम और कर्म के वशीभूत प्राणी आत्मस्वरूप में अध्यस्त अनात्मप्रपञ्चरूप द्वैत में सत्ता, चित्ता और प्रियता का आधान कर व्यवहार-दशा में अहन्ता-ममतारूप अभिनिवेश के कारण भय को प्राप्त होता है । यद्यपि सुषुप्ति में भी द्वैतबीज अज्ञान विद्यमान रहता है, परन्तु द्वैताभिनिवेश के अभाव में अध्यासरहित द्वैत भयप्रद नहीं होता । यद्यपि व्यवहारदशा में ग्राह्य और उपेक्ष्य वस्तुएँ भी द्वैत हैं, परन्तु वे तत्काल भयप्रद सिद्ध नहीं होतीं; तथापि उनकी श्रमप्रदता, वियोगशीलता और उनसे उपरामता के कारण वे आत्मस्वरूप में अध्यस्त अवश्य हैं ; अत एव वरणीय नहीं हैं, भयप्रद अवश्य हैं । अभिप्राय यह है कि अनुकूल द्वैत की भी स्थिर प्रेमास्पदता असिद्ध है, अतः भयप्रदता सिद्ध है । स्वप्न और मनोराज्यगत दृश्यप्रपञ्च के तुल्य ही बाह्यदृश्य का वास्तविक अस्तित्व नहीं है । अतः द्वैत-प्रपञ्च के अस्तित्व की अभिमति (स्वीकृति) एवम् उसमें प्रीति और प्रवृत्तिसे तथा प्रतिकूलबुद्धिरूप अभिनिवेश से मन को मुक्त कर सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा में सन्निहित कर अभयप्रद मोक्षोपलब्धि ही जीवका चरम लक्ष्य और कर्त्तव्य है ।

(२) सनातनधर्म में प्रत्यक्षादि इतर प्रमाणों से अ-नधिगत और अबाधित जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण सच्चिदानन्द- स्वरूप सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सर्वेश्वर का नाम ब्रह्म है । उस सर्वेश्वर का उत्कर्ष दार्शनिक, वैज्ञानिक और व्यावहारिक धरातल पर अनुपम है । अतः उसके भक्तों का उत्कर्ष भी अद्भुत

है । वह सर्वेश्वर सर्व, सर्वगत, सर्वान्तरात्मा, सर्वातीत तथा सगुण-निर्गुण-साकार-निराकार उभयरूप है । सनातन सर्वेश्वर वही है, जो सर्व जीवों की चाहका वास्तविक विषय है । अर्थात् जो सर्वनियामक, परम स्वतन्त्र, सच्चिदानन्दस्वरूप है । अतः उसमें सर्वहित का पूर्ण आदर्श सदा सन्निहित है । वह सर्वजीवों के आकर्षण का स्वाभाविक केन्द्र है । उसके साक्षात्कार की भावना से और विश्व को विप्लवपूर्ण विभीषिकाओं से बचाने की इच्छा से अर्थ और काम को पुरुषार्थविहीन होने से बचना अत्यावश्यक है । श्रीमद्भागवत ११.२३.१८,१९ के अनुसार चोरी, हिंसा, अनृत (झूठ), दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेद (फूट), वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, द्यूत (जूआ) और मद्य (मदिरा)रूप पन्द्रह अनर्थों के चपेटसे अर्थ को विमुक्त रखना परमावश्यक है । तद्वत् काम को देशातिक्रम (उचित देश का अविचार), कालातिक्रम (उचित काल का अविचार), पात्रातिक्रम (गम्य, अगम्य रूप पात्रता का अविचार), अशुचि, क्रोध, असंयम, निन्दा, वाचालता, अश्लीलता, मदविह्वलता, अभक्ष्यभक्षण, अतिसामीप्य, अतिदूरता, अस्निग्धता और अनुदारता रूप पद्रह दोषों से विमुक्त रखना परमावश्यक है । तद्वत् धर्म को पुरुषार्थ-विहीनता से बचाने के लिये अ-नधिकार चेष्टा, कालातिक्रम, देशातिक्रम, पात्रातिक्रम, दम्भ, द्रोह, अभिमान, ख्याति, असंयम, मिथ्या आहार-विहार, देवता-पितर-परलोक-परमेश्वर-परोपकार-पूर्वजन्म-पुनर्जन्म में अनास्था, परोत्कर्ष की असहिष्णुता, आलस्य, असत्य और

अधैर्यरूप पन्द्रह दोषोंसे विमुक्त रखना आवश्यक है । तद्वत् मोक्ष को पुरुषार्थविहीनता से बचानेके लिये पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा, मलसहिष्णुता, विक्षेपसहिष्णुता, आवरणसहिष्णुता, प्रमाद, अहङ्कार, हरि-गुरुविमुखता, द्वैतसहिष्णुता, श्रवण-मन्न-निदिध्यासन से पराङ्मुखता, निर्गुण-निर्विशेष के अस्तित्-वमें अनास्था, परमेश्वर की परोक्षता, आत्मा की परिच्छिन्नता तथा असच्चिदानन्दरूपता की मान्यता रूप पद्रह दोषों का परित्याग परमावश्यक है ।

(३) सनातनधर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि मानवोचित शील को वर्णाश्रम की विधा से जीवन में क्रमशः सन्निहित करने का विधान है । अतः अहिंसादि के नाम पर हिंसादिका ताण्डवनृत्य असम्भावित है ।

(४) सनातनधर्म में सबकी जीविका जन्म से ही आ-रक्षित है तथा शिक्षा, रक्षा, अर्थ, सेवादिकी व्यवस्था सबको सदा समुचित रूप से सुलभ कराने की भावना से निसर्गसिद्ध वर्णाश्रमव्यवस्था का प्रारूप है ; अतः समय और सम्पत्ति का सदुपयोग, कर्त्तव्यपालनार्थ अपेक्षित संस्कारसम्पन्नता, स्वावल-म्बन और सुबुद्धता, मानवोचित शीलसम्पन्नता, वर्णसङ्करता और कर्मसङ्करता से पराङ्मुखता, संयुक्तपरिवार की सुलभता आदि दिव्यताओं से सम्पन्न व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक संरचना इसमें सन्निहित है । सनातनधर्म में स्वाधिकार की सीमा में कर्त्तव्य का पालन विहित है ; अतः अनावश्यक या अत्यधिक दायित्व से सब को मुक्त रखने की अद्भुत चमत्कृति है ।

(५) सनातनधर्म में वर्णाश्रमोचित कर्मविभाग होने-पर भी फलचौर्य नहीं है । अभिप्राय यह है कि लौकिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष का और मोक्ष का मार्ग सबके लिये प्रशस्त है । इस प्रकार सनातनधर्म में अधिकारानधिकार का विधान होनेपर भी किसी की प्रतिभा और प्रगति का अवरोध नहीं है तथा 'सबमें सब का अधिकार' जैसा अनर्गल प्रलाप न होने से प्रगति के नाम पर प्रलयङ्कर उन्माद नहीं है ।-

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।"

(श्रीमद्भगवद्गीता १८.४५)

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।"

(श्रीमद्भगवद्गीता १८.४६)

(६) इसमें वर्णाश्रमविभेद दार्शनिक, वैज्ञानिक और व्यावहारिक धरातल पर परम महत्त्वपूर्ण है, न कि रागद्वेषमूलक है। इसमें वर्णाश्रमविभागगत भेद का प्रयोजन प्रकृतिप्रदत्त सर्वभेदों का सदुपयोग करते हुए सुखमय सामाजिक संरचना और समस्त भेदभूमियों से अतिक्रान्त निर्भेद आत्मस्थिति तक गति है ।-

विशेषेण च वक्ष्यामि चातुर्वर्ण्यस्य लिङ्गतः ।
पञ्चभूतशरीराणां सर्वेषां सदृशात्मनाम् ।।
लोकधर्मे च धर्मे च विशेषकरणं कृतम् ।
यथैकत्वं पुनर्यान्ति प्राणिनस्तत्र विस्तरः ।।

(महाभारत, अनुशासनपर्व १६४.११,१२)

(७) सनातनधर्म में व्यवहारशुद्धि से परमार्थसिद्धि का

सदुपदेश है । स्नान, भोजन, शयन, यज्ञ, दान, तप आदि सकल लौकिक और पारलौकिक व्यवहार भगवत्समर्पण की भावना से और भगवदर्थ सम्पादित होने के कारण स्नानादि की केवल भोगरूपता चरितार्थ नहीं है, अपितु योग और भक्तिरूपता सिद्ध है ।

(८) सनातनियों के मार्गदर्शक आप्तकाम, परम निष्काम सत्पुरुष लोभ, भय, कोरी भावुकता और अविवेक से सर्वथा अतीत होते हैं । वे स्वार्थलोलुप और अदूरदर्शी नहीं होते । वे सर्वहितैषी, सर्वहितज्ञ, सर्वहित में तत्पर और सर्वसमर्थ ईश्वरकल्प होते हैं । अतः सनातनियों का पतन नहीं होता ।

(९) सनातनधर्म में जो जहाँ है, उसे वहीं से उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करने की स्वस्थ विधा है । अतः पन्थगत सङ्कीर्णता और अधिकार तथा अभिरुचि के उच्छेद का इसमें समादर नहीं है ।

(१०) सनातनधर्म में मर्यादा, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, संस्कारविज्ञान, भोजन-वस्त्र-आवास-शिक्षा-रक्षा-स्वास्थ्य-सेवा-न्याय-यातायात-विवाह-कृषि-गणित-लोक-परलोक-सृष्टि-स्थिति-संहृति-निग्रह-अनुग्रह आदि विविध विज्ञानों का सन्निवेश है । अतः आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक समग्र विकास में यह अमोघ हेतु है । पतन का मूल शिक्षापद्धति का अनादर्श होना है । सनातनधर्म में उस शिक्षणसंस्थान और शिक्षित को धर्मद्रोही उद्घोषित किया गया है, जिसके द्वारा केवल अर्थ और काम या धन और मान के लिए शिक्षा का

उपयोग और विनियोग सुनिश्चित है ।-

आजिजीविषवो विद्यां यशःकामौ समन्ततः ।
ते सर्वे नृप पापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व १४२.१२)

(११) सनातनधर्म में प्रवृत्ति को निवृत्ति और निवृत्ति को निर्वृति (मुक्ति)-पर्यावसायिनी बनाने की क्रमिक स्वस्थविधा है ; अतः जीवन को पूर्ण सार्थक करने में यह समर्थ है । इसके अनुसार जीवनयापन करनेवाला जीवनकाल में ही कृतकर्त्तव्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य होने में समर्थ है ।

स्मृत्वा कालपरीमाणं प्रवृत्तिं ये समास्थिताः ।
दोषः कालपरीमाणे महानेष क्रियावताम् ।।
(महाभारत, शान्तिवर्प ३४०.१३)

निर्वाणं सर्वधर्माणं निवृत्तिः परमा स्मृता ।
तस्मान्निवृत्तिमापन्नश्चरेत् सर्वाङ्गनिर्वृतः ।।
(महाभारत, शान्तिपर्व ३३९.६७)

(१२) सनातनधर्मशास्त्र किसी को अराजकता की ओर प्रेरित और प्रवाहित करनेवाला नहीं है । व्यक्ति को उन्मादी बनाने के पक्षधर सनातन धर्मशास्त्र विल्कुल नहीं हैं । 'सत्यं शिवं सुन्द-रम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'सर्वेषां मङ्गलं भूयात्' (गरुडपुराण २.३५.५१; भविष्यपुाण ३.२.३५.१४), 'अमृतस्य पुत्राः' (श्वेताश्वतरोपनिषत् २.५), 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (महा-ेपनिषत् ६.७१) तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्योपनिषत् ३.१४.१) का आदर्श श्रौतसिद्धान्त है । सनातनशास्त्रों में स्वयं

को संयत करने और अराजकतत्त्वों के दमन करने का समादर है । अराजकतत्त्वों के दमन के मूल में स्नेह, सहानुभूति और सर्वहित की भावना सन्निहित है, न कि विद्वेष का कालुष्य प्रतिष्ठित है ।

(१३) सनातनधर्म में तामस को राजस, राजस को सात्त्विक, सात्त्विक को शुद्धसात्त्विक-गुणातीत बनाने का क्रमिक सोपान सन्निहित है । इसमें विकास के नाम पर विनाश को उज्जीवित करने का उपक्रम नहीं है । इसमें स्वास्थ्य के लिए अपेक्षित शुद्ध पृथ्वी, पानी, प्रकाश, पवन, आकाश, अहम्, महत्, दिक्, काल, सङ्कल्प, निश्चय, स्मरण, गर्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे सम्पन्न व्यष्टि और समष्टि की संरचना और संस्थिति का विज्ञान सन्निहित है ।

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः
स्पर्शी च वायुर्ज्वलितं च तेजः ।
नभः सशब्दं महता सहैव
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ।।
(वामनपुराण १४.२६)

''गन्धयुक्त पृथ्वी, रसयुक्त जल, स्पर्शयुक्त वायु, प्रज्वलित तेज, शब्दसहित आकाश, सत्त्वसम्पन्न अहम् और महत्तायुक्त महत्- ये सब मेरे प्रातःकाल को मङ्गलमय करें ।''

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितः ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ।।
(श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, पाठ. २)

''समय पर वर्षा हो, पृथ्वी सस्यशालिनी रहे, यह देश

क्षोभरहित रहे, ब्राह्मण सबके हित में संलग्न रहें ।''

(१४) सनातनधर्म में सम्पन्नता के नाम पर दरिद्रता को प्राप्त कराने की अदूरदर्शिता नहीं है । मद्य, द्यूत, अपवित्रता, चोरी, तस्करी, कच्चेमाल का निर्यात और कर्ज (ऋण) का झञ्झावात, विश्वासघात, कृत्रिम व्यक्तित्व, श्रम से अरुचि, असंयम, विषयलम्पटता शीलापहरण, बर्बरतादि दूषणों से विमुक्त जीवनपद्धति और शासन- संस्थान के कारण सनात-नधर्म सर्वत्र समृद्धि, सुख और शान्ति से सम्पन्न दर्शन है ।

(१५) सनातनधर्म में स्थूल शरीर को व्रण ज्वरादि व्याधिग्रस्त, सूक्ष्मशरीर को कामादि आधियों से संत्रस्त तथा कारणशरीर को अविद्यासंलिप्त करने और रखने की विधा का नाम आध्यात्मिक विकास नहीं है । परमेश्वर, प्रकृति, पञ्चभूत, धर्म और धर्मशीलों से विमुखता और सुदूरता का नाम सनातन-धर्म में आधिदैविक और आधिभौतिक विकास नहीं है । सबको स्वस्थ, सर्वेश्वर का भक्त, दैवीप्रकृतिका अनुचर, पञ्चभूतों का संरक्षक और धर्मशील बनानेवाला धर्म सनातनधर्म है ।

(१६) ''देहनाश से आत्मनाश नहीं होता और देहभेद से आत्मभेद नहीं होता''- इस दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार कर अधिकारानुसार चित्तशोधक कर्म, समाधिप्रद उपासना और भवभयापहारक ज्ञान का विधायक सनातनधर्म है । अतः इसके अनुपालन से सर्वहित सुनिश्चित है ।

(१७) सनातनधर्म का मूल अपौरुषेय वेद और व-ेदानुकूल आप्तवचन है । अतः इसमें पुरुषनिष्ठ भ्रम, प्रमाद,

अपटुता, अदूरदर्शिता, छल, आदि का सन्निवेश बिल्कुल नहीं है ।

(१८) आत्मनिष्ठ आप्तकाम व्यासपीठासीन धर्माचार्यों से नियन्त्रित सर्वहितैषी शासनतन्त्र की व्यवस्था होने के कारण सनातन धर्म में धर्मनियन्त्रित पक्षपातविहीन शोषणविनिर्मुक्त शासनतन्त्र की शक्ति सन्निहित है ।

(१९) सनातनधर्म में सबको सुबुद्ध, स्वावलम्बी और सत्यसहिष्णु बनानेका मार्ग प्रशस्त है । सनातनधर्म के परिपालन से अर्थ, काम और मोक्षरूप शेष तीन पुरुषार्थों की भी संसिद्धि सुनिश्चित है । व्यवहारकी सार्थकता और परमार्थसिद्धि की प्रशस्त विधा सनातनधर्म है ।-

धर्मात्सञ्जायते ह्यर्थो धर्मात्कामोऽभिजायते ।
धर्म एवापवर्गाय तस्माद्धर्मं समाश्रयेत् ।।

(कूर्मपुराणपूर्व. २.४५)

(२०) सनातनधर्म में विश्व के प्रत्येक मानव को भारतवर्ष के अग्रजन्मा मनीषियों के सम्पर्क में आकर अपने-अपने चरित्र की शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग सुलभ है ।-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

(मनुस्मृति २.२०)

(२१) भारत के चक्रवर्तिनरेन्द्रों का यह दायित्व रहा है कि वे चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड में जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उनका जो स्वभावसिद्ध आहार है, उन्हें सुलभ करावें

। धान्य, वेद, वीर्य-ओज-बल-अमृत, कव्य, स्वरमाधुर्य-सा-ैन्दर्य, विद्या, सिद्धि, तृण, रस, फल, आसव-मदिरा, रुधिर, मांस, विष, माया आदि क्रमशः मनुष्यों, देवों, पितरों, गन्धर्वों - अप्सराओं, सिद्धों, पशुओं, वृक्षों, पक्षियों, दैत्य-दानवों, यक्ष-राक्षसों, सर्पादि विषधरों और किम्पुरुषों के निसर्गसिद्ध आहार हैं । चक्रवर्ती नरन्द्रों का यह भी दायित्व है कि पर्वतादि परोपकारी पदार्थों को लोकोपकारिणी धरोहर सुवर्णादि विविध धातुओं से सम्पन्न रहने दें ।

उक्त तथ्य श्रीमद्भागवत में सन्निहित चतुर्थस्कन्ध के अन्तर्गत अट्ठारहवें अध्यायके अनुशीलन से सिद्ध है ।

(२२) सनातनधर्म में आदर्श शासक वही मान्य है, जिनके जनपद (शासनक्षेत्र) में कोई चोर, मदिरादि प्राणघातक और प्रज्ञापहारक पदार्थों का सेवन करनेवाला, स्वेच्छाचारी तथा स्वेच्छाचारिणी एवम् यज्ञ-अध्ययन तथा दानरूप धर्मस्कन्धों के विहीन मानव न हो -

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।।
(छान्दोग्योपनिषत् ५.११.५)

(२३) सनातनधर्म में कर्मोपासना की वह अमोघ विधा है, जिसके अनुष्ठान से मनुष्य कालान्तर में इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि दिक्पालों के पदों को प्राप्त कर सकता है । वह सार्ष्टि, सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य मोक्ष सनातन-उपास-ना के अमोघ प्रभाव से प्राप्त कर सकता है । ब्रह्मात्मतत्त्व

के एकत्व विज्ञान से कैवल्य मोक्ष तक प्राप्त कर सकता है । ब्रह्मादितुल्य अतुल ऐश्वर्यसम्पन्नता सार्ष्टिमोक्ष है । भगवत्सदृश चतुर्भुजादिरूपसम्पन्नता सारूप्य मोक्ष है । भगवद्धाम की सम्प्राप्ति सालोक्य मोक्ष है । भगवत्सन्निकटता सामीप्य मोक्ष है । भगवत्तादात्म्यापत्ति सायुज्य मोक्ष है । निर्गुण-निर्विशेष मुक्तोप्यसृप्य ब्रह्मरूपता कैवल्य मोक्ष है ।

(२४) सनातनधर्म में व्यासासनारूढ आदर्श आचार्य वे मान्य हैं, जिनके स्वस्थमार्गदर्शन में वैदिक वाङ्मय तथा तदनुसार आचार-विचार और साम्राज्य सुलभ हो और जो सर्वहित की भावना से प्रभु की नित्य प्रार्थना करते हों-

स्वत्स्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदताम्
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ।।

।। श्रीहरिः ।।

* श्रीगणेशाय नमः *

विषयानुक्रमणी

क्रम.	विषय	पृष्ठ
(क)	दो शब्द	ii
(ख)	भूमिका	iii-vii
(ग)	मेरे परमप्रिय गुरुदेव	viii-xx
(घ)	प्रकाशकीय	xxi-xxii
(ङ)	सम्पादकीय	xxiii-xxxix
(च)	सारार्थसन्देश	xL-Lii
(छ)	सनातनधर्म की चौबीस विशेषताएँ	Liii-Lxvi
(ज)	विषयानुक्रमणी	Lxvii-Lxxv
१.	प्रस्तावना (INTRODUCTORY)	१-११
१.१.०.	सनातनधर्म की उत्कर्षप्रद प्रगतिशीलता	१
१.२.०.	कुछ मूलभूत भावनाएँ	५
२.	सनातनधर्म का अर्थ (THE MEANING OF SANATAN DHARMA)	१२-५७
२.१.०.	सनातनधर्म	१२

२.२.०. प्रथम अर्थ
१७
२.३.०. द्वितीय अर्थ
१९
२.३.१. इसपर भी इसकी सापेक्ष उपयोगिता
२१
क्रम. विषय पृष्ठ
२.४.०. तृतीय अर्थ
२२
२.४.१. अन्य प्राचीन साम्राज्य
२२
२.४.२. ग्रीककी महत्ता का रहस्य
२४
२.४.३. शारीरिक दक्षता
२५
२.४.४. बौद्धिक दक्षता
२५
२.४.५. व्यवहार में यह कैसे चला ?
२७
२.४.६. इसका परिणाम
२९
२.४.७. रोमकी विधि और व्यवस्था का पन्थ
३०

२.४.८. इसका परिणाम
३१
२.४.९. अन्य साम्राज्य ३२
२.४.१०.विस्मृति ३२
२.४.११.भारत की बात ३३
२.४.१२.भारत और दक्षता ३४
२.४.१३.भारत तथा विधि और व्यवस्था ३५
२.४.१४.वास्तविक लक्ष्य ३६
२.४.१५.आध्यात्मिक पक्ष ४०
२.४.१६.भारत की प्राचीन आर्थिक स्थिति ४०
२.४.१७.मध्यकालीन अवस्था ४२
२.४.१८.इसके और बादकी अवस्था ४३
२.४.१९.भारतकी प्राचीनकालीन राजनीतिक स्थिति ४४
२.४.२०.महाभारत की कथा ४५
२.४.२१.मैक्सिकन साक्ष्य ४६

क्रम. विषय पृष्ठ

२.४.२२.सर्वोपरि प्रश्न ४७
२.५.०. तृतीय अर्थ का अनुस्मरण
४८
२.५.१. मानवजाति की आकाङ्क्षाएँ
४९
२.५.२. बाढ़ और पानी की बूँद
५०

२.६.०. चतुर्थ अर्थ ५२
२.६.१. सनातनधर्म का चार प्रकार का अर्थ ५३
२.६.२. विश्लेषण का निष्कर्ष ५४
२.६.३. इसका निष्कर्ष ५५
२.६.४. सनातनशास्त्रसम्मत सनातनधर्म में अगाध आस्था की न्यायसङ्गतता ५७
३. सनातनधर्म तर्क-बुद्धि का विरोधी नहीं ५८-८१
(SANATAN DHARMA NOT OPPOSED TO REASON)
३.१.०. सनातनसिद्धान्त से आधुनिक विज्ञान के नियमों की अनुरूपता ५८
३.१.१. आधुनिक विज्ञान में धर्म की अत्यन्त विनीत दासता ५९
३.१.२. धर्म ईश्वरद्वारा व्यक्त शब्द (सिद्धान्त) और विज्ञान प्रकृतिद्वारा व्यक्त शब्द (सिद्धान्त) ५९
३.१.३. अन्ध विश्वास यदि अनुचित तो अन्ध अविश्वास भी अनुचित ही ६१
३.१.४. ग्रहणकालिक विधि-निषेध तथा पान आदि के सेवन की सनातनविधा में सन्निहित वैज्ञानिकता ६४

विषयानुक्रमणी

क्रम.	विषय	पृष्ठ
३.१.५.	नक्षत्र और ग्रहों के अवलोकनार्थ सनातन परम्पराप्राप्त यमपाशमुद्रा की दूरवीक्षण में संलग्न वलयाकारता	६७
३.१.६.	यान्त्रिकविधासे सम्प्राप्त रक्तके ४८ वर्गकिरण से सनातन वर्णव्यवस्था और अनुलोम-विलोम सङ्करता की विश्वसनीयता	६९
४.	अधिकारीभेद (ADHIKARI BHEDA)	८२-९९
४.१.०.	कपटमयी उदारचित्तता	८२
४.२.०.	अनिवार्यभेद	८४
४.३.०.	चिकित्साओं में भेद	८५
४.४.०.	आहारों में भेद	८५
४.५.०.	रुचियों में भेद	८६
४.६.०.	मानसिक एवं आध्यात्मिक अन्तर	८७
४.७.०.	एक कल्पित उदाहरण	८७

४.८.०. तीन प्रकार के मार्ग
८८
४.८.१. अन्तर्विभाग
८९
४.८.२. इस विषय पर कुछ शास्त्रवाक्य
९२
४.९.०. षन्मतास्थापनाचार्य
९५
४.१०.०.एकेश्वरवाद तथा अनेकश्वरवाद ९६
४.११.०.वास्तविकस्थिति ९८
४.११.१.दूसरी सुविधा ९९

क्रम.	विषय	पृष्ठ
५.	हमारे धर्म के सम्बन्ध में मिथ्या धारणा (WORNG VIEWS ABOUT OUR RELIGION)	१००-१०४

५.१.०. प्राच्यविदों की स्थिति
१०१
५.२.०. वर्षा तथा शरत्
१०२
५.३.०. रामायण और महाभारत
१०३
५.४.०. भारत आर्यों का वास्तविक प्राचीन निवासस्थान
१०४

६. हमारी सामाजिक प्रणाली १०५-१५७
(OUR SOCIAL SYSTEM)

६.१.०. उनके भारतीय भाई-बन्धु
१०६
६.२.०. भारत में उल्टे-पुल्टे 'समाज-सुधार' का इतिहास १०८
६.३.०. इन सबों का परिणाम
१०९
६.४.०. शेक्सपीयर की 'बारहवीं रात' (नाटक) से
११०
६.५.०. अनिवार्य अन्तर
१११
६.६.०. एकता तद्विरुद्ध एकरूपता
११२
६.७.०. स्थूल शरीर
११३
६.८.०. एक व्यावहारिक उदाहरण
११३
६.९.०. अन्य सुस्पष्ट दृष्टान्त
११४
६.१०.०.सामाजिक संस्था ११६
६.११.०.किस प्रकार इसका पालन नहीं किया जाय ११७

विषयानुक्रमणी

क्रम. विषय पृष्ठ

६.१२.०.उचित सिद्धान्त ११७

६.१३.०.नारीकी स्थिति ११८

६.१४.०.वैज्ञानिकपरिप्रेक्ष्य में शास्त्रीय अस्पृश्यता १४७

७. सनातन धर्म तथा विज्ञान १५८-१६६

(SANATAN DHARMA AND SCIENCE)

७.१.०. अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद वैदिक वाङ्मय आध्यात्मिक और भौतिक जीवन में सामञ्जस्य का साधक १५८

७.२.०. आत्मविज्ञानपर्यवसायी भौतिकविज्ञान १६४

८. धर्मों की मूलभूत एकता १६७-२०६

(THE BASIC UNIT OF RELIGIONS)

८.१.०. विविध धर्मों में अभिरुचि, अधिकार और क्रमिक सोपानगत मतभेद, न कि मौलिक विगान या विरोध १६७

८.२.०. शास्त्रमें प्रकरण के और समष्टि में व्यष्टि के सदृश सम्पूर्ण में अंश के सन्निहित होने की सम्भावना १७५

८.३.०. चित्तशुद्धि, समाधि और तत्त्वदृष्टि की क्रमिक उद्भावना धार्मिक चेतना १८१

८.४.०. सत्यसहिष्णुता की क्रमिक अभिव्यक्ति विविध धर्मों में सामञ्जस्य की कुञ्जी १९०

९. भारत का धार्मिक अतिथिसत्कार २०७-२१४

विषयानुक्रमणी

(INDIA'S RELIGIOUS HOSPITALITY)

क्रम.	विषय	पृष्ठ
१०.	मानवता का लक्ष्य (HUMANITY'S GOAL)	२१५-२२६
१०.०.०.	पञ्चविध लक्ष्य	२१५
१०.१.०.	अन्य कोई आकाङ्क्षा नहीं	२२१
१०.२.०.	मार्गदर्शन	२२२
१०.२.१.	मार्ग	२२३
१०.३.०.	प्रकृति पर विजय	२२४
१०.४.०.	कोई वास्तविक संघर्ष नहीं	२२५
११.	तीन प्रकार के योग (THE THREE YOGAS)	२२७-२४३
११.१.०.	कर्म, भक्ति और ज्ञान-त्रिविध योग	२२७
११.२.०.	प्रत्यवायशून्य कर्मयोग की स्वस्थविधा	२२८
११.३.०.	कर्मयोग में सन्निहित भक्तियोग	२३२

सनातनधर्म

१. प्रस्तावना
(INTRODUCTORY)

१.१.०. सनातनधर्म की उत्कर्षप्रद प्रगतिशीलता

काल के जिस प्रवाह में हमलोगों का जीवन पड़ा है, वह विश्व के इतिहास में सामान्यरूप से तथा भारत में विशेषतः उत्तेजक एवं संकटपूर्ण है । हम लोगों को दो प्रकार की संस्कृातियों का, दो सभ्यताओं का, दो दृष्टिकोणों का दो प्रकार की मनोवृत्तियों का तथा दो भिन्न विचारधाराओं का संघर्ष झेलने को बाध्य किया जाता है । इनमें से एक भारत की प्राचीन एवं शाश्वत संस्कृति है, जिसे सनातन धर्म के नाम से जाना जाता है, और दूसरी वह है जो आधुनिक संस्कृति एवं सभ्यता के नाम से जानी जाती है । सामान्यतया इन दोनों को परस्पर विरोधी माना जाता है और अग्रिम को हेयदृष्टि से देखने की तथा बाद वाली को समर्थन देने की प्रवृत्ति रही है ।

लोग युग-चेतना की बातें करते हैं और कहते हैं कि युग-चेतना सनातन धर्म के विरुद्ध है । लेकिन युगचेतना तो वैसी ही होती है, जैसी हम उसे बनाते हैं । युग-चेतना वह नहीं है जो हमलोगों को बनाये । जिस पल हम लोग युग-चेतना को स्वयं पर नियन्त्रण करने देते हैं, हम जड़ पदार्थ बन जाते हैं और हमलोगों को स्वयं को विचारशील, विवेकी मनुष्य कहने का,

कहने का अधिकार नहीं रहता । उदाहरण के लिए बाढ़ को लिजिये । वे वस्तुएँ क्या हैं, जिन्हें आप नदी में प्रवाहित होते देखते हैं ? नदी के किनारों से उखड़े वृक्ष, पशुओं के कङ्काल तथा सभी मृत वस्तुएँ बाढ़ में प्रवाहित हो जाती हैं । आप एक भी ऐसे पशु को नहीं पायेंगे जो प्राण रहते हुए धार के प्रवाह में यन्त्रवत् तथा स्वतः बहता हुआ चला जाये । आप पशु को धार के विरुद्ध संघर्ष करता पायेंगे । हम मनुष्य अपनी श्रेष्ठता तथा बौद्धिकता, अपनी शिक्षा तथा संस्कृति पर गर्व करते हैं । यदि हम धारा के प्रवाह में बहते चले जाते हैं तो इसका यह तात्पर्य हुआ कि हम सजीव नहीं रहे, ऐसी अवस्था में हम पशुओं से भी निकृष्ट हैं । पशु केवल मरने पर ही, उससे पूर्व नहीं, धारा के प्रवाह में बहते जाते हैं ।

विवेकशील प्राणी होने के नाते हमलोगों का यह कर्त्तव्य है कि किसी वस्तु के गुण और दोष पर विचार कर ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचें जो हमलोगों के लिए तथा मानवता के लिए लाभप्रद हो और तदनुसार कार्य करें । मैं एक सामान्य मिथ्याबोध को दूर करूँगा । सनातन धर्म किसी पर अन्धविश्वास नहीं थोपता । यह जिज्ञासा का बहिष्कार नहीं करता । बल्कि इसके विपरीत यह पक्षपात तथा पूर्वनिर्धारित धारणाओं से पूर्णतया मुक्त जिज्ञा-साओं को प्रोत्साहित करता है । यह आरोप कि हमारे पूर्वजों की जिज्ञासा की वैज्ञानिक मनोवृत्ति नहीं थी और वे अन्धविश्वास पर कार्य करते थे, भारतीय मस्तिष्क एवं मनोवृत्ति का अपमान है । सनातनधर्म में जिज्ञासा की भावना को न केवल स्वीकार

में भी यह निर्दिष्ट है । उपनिषद् का कथन है– ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' (बृहदारण्यक. ४/५/६) । अर्थात् 'आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन (ध्यान) करना चाहिए।' श्रुति श्रवण के अनन्तर मनन का विधान (उपदेश) करती है । युक्तिपूर्वक मनन होता है । जिज्ञासा तथा विचार में बुद्धि का उपयोग होता है । सन्तुष्ट होने के लिए जिज्ञासा कर्त्तव्य है । युक्तियों का आलम्बन लेकर समझने का प्रयास भी कर्त्तव्य है । बुद्धि को ताक पर रख कर केवल अन्धविश्वास से जिज्ञासा, मनन असम्भव है । गौरवमय व्यक्ति के सम्मुख भी समझने की भावना से प्रश्न करना अ-नुचित नहीं है, बल्कि सर्वथा कर्त्तव्य ही है ।

और एक दूसरी बात भी है । हमलोगों में से सर्वश्रेष्ठ तथा बुद्धिमान् को भी, न केवल आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में बल्कि अत्यन्त लौकिक वस्तुओं के विषयों में जैसे सिलाई, खाना पकाना आदि कार्यों के विषय में, उन व्यक्तियों से सीखना है, जिन्हें पहले से वास्तविक एवं व्यक्तिगत अनुभव है ।

ऐसे व्यक्तियों से सीखने को, जिन्हें पहले से ही ज्ञान है, 'श्रवण' कहते हैं ।

इस प्रकार के सीखने के उपरान्त अनुसन्धान, अन्वेषण का निर्देश है । उन सभी विषयों पर विचार कीजिये, जो सम्भ-वतः सन्देहों तथा कठिनाइयों के रूप में उत्पन्न हो सकती हैं और प्रत्येक सन्देह तथा कठिनाई का निवारण किजीये । यह 'मनन' है ।

१. प्रस्तावना

वाणी से हमलोगों ने जो कुछ भी सीखा है और समझा है, उसे व्यवहार में लाना है । अतः सनातन धर्म की विधि है, किसी वस्तु के विषय में गुरु से सही ज्ञान प्राप्त करना और उसका सतर्कता-पूर्वक अनुसन्धान कर तथा उसकी सत्यता के प्रति निश्चित होकर यह प्रतिपादित करना कि वह सच्चा सिद्धान्त है । अतएव यह धारणा कि सनातन धर्म जिज्ञासा की भावना के विरुद्ध है, गलत है।

सनातन धर्म के विरुद्ध एक दूसरा आरोप यह है कि वह जड़वत् है, गतिशील नहीं है, तथा हिन्दू धर्म प्रगति के मार्ग में बाधा है । लोगों से पूछा जाता है कि भारत जो राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकार से भी अतीत काल में इतना महान् था, उसका अब इतना पतन कैसे हुआ ? यह बताया जाता है कि सामान्य रूप से सभी धर्म और विशेषतः सनातन धर्म, सब प्रकार की प्रगति का शत्रु है । लेकिन यह गलत धारणा है ।

विश्व में यदि कोई भी वस्तु गतिशील है तो वह सनातन धर्म है । सर्वप्रथम हमलोग यह समझें कि धर्म का अर्थ क्या होता है । वह एक ऐसा माध्यम अथवा साधन अथवा कोई साधनों का समूह है, जिसके द्वारा हमारा उत्थान होता है । धर्म-सम्बन्धी सामान्य गलत धारणा के विपरीत सत्य यह है कि धर्म वह है जो हमें पतित होने से, भ्रष्ट होने से रोकता है । धर्मद्वारा हमारा अभ्युत्थान केवल एक दिशा में ही नहीं, बल्कि सब क्षेत्रों में होता है । इसके अन्तर्गत शिक्षा की सभी शाखाएँ, ज्ञान के समस्त क्षेत्र आते हैं । हर प्रकार का ज्ञान हमलोगों को वर्तमान स्थिति से श्रेष्ठता की स्थिति में पहुँचने में, सहायता करता है और यही

श्रीशङ्कराचार्य गोवर्धनमठ - पुरीपीठ

सनातनधर्म
SANATAN DHARMA

मूल लेखक

पूर्वाम्नाय श्रीगोवर्द्धनमठ, पुरी के १४३ वें

श्रीमज्जगद्गुरुशङ्कराचार्य स्वामी भारतीकृष्णती-र्थजी